वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४८ अंक ५ मई २०१०

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ५

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

न जायते नो म्रियते न वर्धते
न क्षीयते नो विकरोति नित्यः ।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मि-
न्न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ।।१३४।।

अन्वय – (अयम् आत्मा) नित्यः, न जायते, नो म्रियते, न वर्धते, न क्षीयते, नो विकरोति । अमुष्मिन् वपुषि विलीयमाने अपि कुम्भे अम्बरम् इव, स्वयं न लीयते ।

अर्थ – यह आत्मा नित्य है; न यह जन्म लेती है, न मरती है, न इसमें वृद्धि होती है, न इसका क्षय होता है और न इसमें कोई विकार आता है; जैसे घड़े के फूट जाने पर भी उसमें व्याप्त आकाश नष्ट नहीं होता, वैसे ही इस शरीर की मृत्यु के बाद भी उसमें स्थित आत्मा का नाश नहीं होता।

प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः ।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षात्साक्षिरूपेण बुद्धेः ।।१३५।।

अन्वय – प्रकृति-विकृति-भिन्नः शुद्ध-बोध-स्वभावः निर्विशेषः परमात्मा इदम् सत्-असत्-अशेषं भासयन्, जाग्रत्-आदिषु अवस्थासु बुद्धेः साक्षात् साक्षि-रूपेण 'अहम्' –'अहम्' – इति विलसति ।

अर्थ – प्रकृति (अर्थात् अव्याकृत तथा पंच महाभूत आदि कारण) और विकृति (अर्थात् शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक उसके कार्य) से भिन्न, यह शुद्ध ज्ञान-स्वरूप निर्गुण परमात्मा, बुद्धि के साक्षी के रूप में, इस अनन्त सत्-असत् (स्थूल-सूक्ष्म जगत्) को प्रकाशित करता हुआ, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं में 'मैं-मैं' के रूप में लीला कर रहा है।

नियमितमनसामुं त्वं स्वमात्मानमात्म-
न्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।
जनिमरणतरंगापारसंसारसिन्धुं
प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः ।।१३६।।

अन्वय – त्वं अमुं स्वं आत्मानं नियमित-मनसा बुद्धि-प्रसादात् आत्मनि 'अयम् अहम्' इति साक्षात् विद्धि जनि-मरण-तरंग-अपार-संसार-सिन्धुं प्रतर, ब्रह्म-रूपेण संस्थः कृतार्थः भव ।

अर्थ – हे शिष्य, तुम पूर्वोक्त लक्षण युक्त अपने आत्मस्वरूप को संयमित मन के द्वारा, निर्मल बुद्धि की कृपा से, स्वयं में 'यह' 'मैं' ही हूँ – ऐसा साक्षात् अनुभव करो; और (इस प्रकार) जन्म-मृत्यु-रूपी तरंगों वाले अपार संसार-सागर को पार करके, ब्रह्म-स्वरूप में स्थित होकर कृतार्थ हो जाओ।

अत्रानात्मन्यहमिति मतिर्बन्ध एषोऽस्य पुंसः
प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरणक्लेशसंपातहेतुः ।
येनैवायं वपुरिदमसत्सत्यमित्यात्मबुद्ध्या
पुष्यत्युक्षत्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ।।१३७।।

अन्वय – अत्र अनात्मनि अहम् इति मतिः बन्धः । एषः अस्य पुंसः अज्ञानात् प्राप्तः जनन-मरण-क्लेश-संपात-हेतुः । तन्तुभिः कोशकृद्वत् येन एव अयं इदं असत् वपुः सत्यं इति आत्म-बुद्ध्या पुष्यति, उक्षति, विषयैः अवति ।

अर्थ – देह आदि अनात्म-वस्तुओं में 'मैं' का बोध ही बन्धन है, जो अज्ञान द्वारा प्राप्त हुआ है और व्यक्ति के जन्म-मृत्यु आदि कष्टों की प्राप्ति का कारण है। जैसे रेशम का कीड़ा अपने तन्तुओं द्वारा कोआ बनाता है, वैसे ही वह इस अनित्य शरीर को सत्य मानकर इसमें 'अहं'-बोध रखते हुए विषयों द्वारा इसके पोषण, शोधन तथा पालन में लगा रहता है।

श्रीरामकृष्ण वन्दना

– १ –

(बिलासखानी-तोड़ी–कहरवा)

करो ठाकुर मेरा उद्धार ।
आया हूँ मैं शरण तुम्हारी, भवबन्धन सब डार ।।

क्षणभंगुर विषयों में अटका,
जनम-जनम तक जग में भटका,
बहुत हो गया दूर करो अब, मायामय संसार ।।

जब-जब भीर परी तव जन पर,
किया निवारण तुमने आकर,
हुई न मुझ पर कृपा अभी तक, कब से रहा पुकार ।।

डूब रहा माया-दलदल में,
छूट रही आशा पल-पल में,
बाँह पकड़, कर दो 'विदेह' अब, भवसागर से पार ।।

– २ –

(केदार–कहरवा)

मन जो तू चाहे सुखविधान,
तो सुन ये बातें खोल कान,
सब छोड़ भोग-ऐश्वर्य-मान,
भज रामकृष्ण करुणानिधान ।।

दो दिन की है सारी माया,
सुखमय लगती झूठी छाया,
तू शीघ्र विमुख हो जा इनसे,
विषरूप वासना-विषय जान ।। भज.

जग में न कहीं कुछ भी तेरा,
अब छोड़ अहं-मम का घेरा,
सेवा में अर्पित हो जीवन,
सबको निज आत्मस्वरूप मान ।। भज.

अपना ले सुखकर मार्ग श्रेय,
नित स्मरण रहे निज परम ध्येय,
चिन्तन कर प्रभुलीला 'विदेह',
सत्संगति है अमृत समान ।। भज.

महान् धर्माचार्य – शंकराचार्य

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

बुद्ध के उपदेश में खतरे का एक तत्त्व था – वह एक सुधारक धर्म था। लोगों में विराट् आध्यात्मिक परिवर्तन लाने के लिये उन्हें अनेक नकारात्मक शिक्षाएँ देनी पड़ी। परन्तु यदि कोई धर्म नकारात्मक पक्ष को अत्यधिक महत्त्व देता है, तो अन्ततः उसके नष्ट हो जाने का खतरा भी रहता है। कोई भी सुधारक-सम्प्रदाय केवल सुधारक होकर जीवित नहीं रह सकता। केवल निर्माणात्मक तत्त्व – सच्ची प्रेरणा अर्थात् सिद्धान्त – ही जीवित रहते हैं। सुधार सम्पन्न हो जाने के उपरान्त सकारात्मक पक्ष को महत्त्व दिया जाना चाहिये। भवन का निर्माण हो चुकने के बाद मचान को हटा लेना आवश्यक है।

भारत में कुछ ऐसा हुआ कि समय बीतने के साथ-साथ बुद्ध के अनुयायी उनकी शिक्षाओं के नकारात्मक पक्ष पर अत्यधिक बल देने लगे और यही अन्ततः उनके धर्म के अधःपतन का कारण सिद्ध हुआ।[२१]

बौद्ध-धर्म की अवनति से जिन घृणित आचारों का आविर्भाव हुआ, उनका वर्णन करने के लिये न मेरे पास समय है और न इच्छा ही। अति कुत्सित अनुष्ठान-पद्धतियाँ, बड़े भयानक तथा अश्लील ग्रन्थ – जो मनुष्यों द्वारा न तो कभी लिखे गये थे और न मनुष्य ने जिनकी कभी कल्पना तक की थी – अत्यन्त भीषण पाशविक अनुष्ठान-पद्धतियाँ, जो कभी धर्म के नाम पर प्रचलित नहीं हुई थीं – ये सभी पतनशील बौद्ध धर्म की सृष्टि थीं।[२२]

परन्तु भारत को जीवित रहना था, इसीलिये पुनः भगवान का आविर्भाव हुआ। जिन्होंने कहा था, 'जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब मैं आता हूँ' – वे फिर से आये। इस बार भगवान का दक्षिणी प्रदेश में आविर्भाव हुआ। उस ब्राह्मण युवक का, उस अद्भुत प्रतिभाशाली शंकराचार्य का अभ्युदय हुआ, जिसके बारे में कहते हैं कि उसने सोलह वर्ष की उम्र में ही अपनी सारी ग्रन्थ-रचना समाप्त कर ली थी। इस सोलह वर्ष के अद्भुत बालक और उसकी रचनाओं पर आधुनिक सभ्य संसार विस्मित हो रहा है। उसने समग्र भारत को उसके प्राचीन विशुद्ध मार्ग पर ले आने का संकल्प किया था। परन्तु यह कार्य कितना कठिन और विशाल था, इसका जरा विचार करो। (भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के विषय में कुछ बातें मैं पहले ही बता चुका हूँ।) ... तातार, बलूची आदि दुनिया की सभी भयानक जातियों के लोग भारत में आकर बौद्ध बने और हमारे साथ मिल गये। वे लोग अपने राष्ट्रीय आचारों को भी साथ लाये थे। इस प्रकार हमारा राष्ट्रीय जीवन अत्यन्त भयानक पाशविक आचारों से परिपूर्ण हो गया। उक्त ब्राह्मण युवक को बौद्धों से विरासत में यही मिला था और तभी से अब तक भारत में इसी अधःपतित बौद्ध धर्म पर वेदान्त की पुनर्विजय का कार्य सम्पन्न हो रहा है। अब भी यह कार्य जारी है, अब भी यह पूरा नहीं हुआ है। महान् दार्शनिक शंकर ने आकर दिखलाया कि बौद्ध धर्म और वेदान्त के सारांश में विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु तथागत के शिष्यों ने उनके उपदेशों का मर्म न समझकर, स्वयं को हीन बना लिया और आत्मा तथा ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करके नास्तिक हो गये। आचार्य शंकर ने यही दिखलाया और तब बौद्ध लोगों ने अपने प्राचीन धर्म में लौटना आरम्भ किया।

शंकर की प्रतिभा प्रखर थी, परन्तु उनका हृदय... उतना उदार नहीं था।... मेरी समझ में नहीं आता कि लोग शंकर को अनुदार मत का पोषक क्यों कहते हैं! उनके लिखे ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता, जो उनकी संकीर्णता का परिचय दे। जिस प्रकार भगवान बुद्धदेव के उपदेश उनके शिष्यों के हाथों में बिगड़ गये, उसी प्रकार शंकराचार्य के उपदेशों पर संकीर्णता का जो दोष लगाया जाता है, सम्भवतः वह उनकी शिक्षा के कारण नहीं, अपितु उनके शिष्यों की अयोग्यता के कारण है।[२३]

आचार्य रामानुज

तब मेधावी रामानुज का अभ्युदय हुआ।... रामानुज का हृदय शंकर की अपेक्षा अधिक विशाल था। उन्होंने पद-दलितों की पीड़ा का अनुभव किया और उनके प्रति सहानुभूति दिखायी। उन्होंने उन दिनों प्रचलित अनुष्ठान-पद्धतियों में यथाशक्ति सुधार किया और उन लोगों के लिये नयी अनुष्ठान-पद्धतियों, नयी उपासना-प्रणालियों की सृष्टि की, जिनके लिये ये अति आवश्यक थीं। इसी के साथ-साथ उन्होंने ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक – सबके लिये

सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना का द्वार खोल दिया। यह था रामानुज का कार्य ! ...

रामानुज के समय से धर्म-प्रचार की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है; और वह यह कि तभी से सर्वसाधारण के लिये धर्म का द्वार खुल गया।[२४]

श्री चैतन्य महाप्रभु

उत्तर भारत के महान् सन्त – चैतन्यदेव गोपियों के प्रेमोन्मत्त भाव के प्रतिनिधि थे। चैतन्यदेव स्वयं एक ब्राह्मण थे, उस समय के एक प्रसिद्ध नैयायिक वंश में उनका जन्म हुआ था। वे न्याय के अध्यापक थे, तर्क द्वारा सबको परास्त करते थे – यही उन्होंने बचपन से जीवन का उच्चतम आदर्श समझ रखा था। किसी महापुरुष की कृपा से इनका सम्पूर्ण जीवन बदल गया। तब उन्होंने वाद-विवाद, तर्क, न्याय का अध्यापन – सब कुछ छोड़ दिया। संसार में भक्ति के जितने बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं, प्रेमोन्मत्त चैतन्य उनमें से एक श्रेष्ठ आचार्य हैं। उनकी भक्ति-तरंग सारे बंगाल में फैल गयी, जिससे सबके हृदय को शान्ति मिली। उनके प्रेम की सीमा न थी। साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र, अपवित्र, वेश्या, पतित – सभी उनके प्रेम के भागी थे, वे सब पर दया रखते थे। यद्यपि काल के प्रभाव से सभी अवनति को प्राप्त होते हैं और उनका चलाया हुआ सम्प्रदाय घोर अवनति की दशा को पहुँच गया है। तो भी आज तक वह ऐसे लोगों का आश्रय-स्थल है, जो निर्धन, दुर्बल, जातिच्युत, पतित हैं और जिनका किसी भी समाज में स्थान नहीं है।[२५]

चैतन्य महाप्रभु महान् त्यागी थे। उनका कामिनी और इन्द्रिय-भोग से कोई नाता नहीं था। परन्तु बाद में, उनके अनुयाइयों ने स्त्रियों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लिया, चैतन्यदेव के नाम पर अन्धाधुन्ध उनके सम्पर्क में रहे और इस प्रकार उनके महान् आदर्शों को मिट्टी में मिला दिया। प्रेम का जो आदर्श चैतन्य महाप्रभु ने अपने जीवन में प्रकट किया था, उसमें तो अहंभाव और वासना का लेश तक नहीं था; वह काम-विहीन प्रेम सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं हो सकता था। परन्तु उनके परवर्ती वैष्णव गुरुओं ने, चैतन्य महाप्रभु के जीवन के त्याग तथा निःस्पृहता के आदर्शों पर बल न देकर, सर्व-साधारण के बीच उनके प्रेम के आदर्श का ही प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि सर्व-साधारण उस स्वर्गीय प्रेम के तत्त्व को नहीं समझ सका और उस प्रेम को निकृष्टतम प्रकार के स्त्री-पुरुष-प्रेम का रूप प्राप्त हुआ। ... जब तक हृदय में वासना के लिये तिल मात्र भी स्थान है, तब वह प्रेम सम्भव नहीं। केवल महान् त्यागी, निःस्पृह तथा संन्यस्त व्यक्ति, जो मानवों में अतिमानव हैं – केवल उन्हें ही उस स्वर्गीय प्रेम का अधिकार है। यदि वह प्रेम का उच्चतम आदर्श सर्व-साधारण में प्रचलित कर दिया जाय, तो वह प्रकारान्तर से मनुष्य के हृदय में प्रबल सांसारिक प्रेम को ही उद्दीप्त करेगा – क्योंकि ईश्वर का प्रिया-भाव से ध्यान करते-करते साधारण मनुष्य अधिकांश समय अपनी ही प्रिया के ध्यान में खोया रहेगा।[२६]

श्रीरामकृष्ण

एक (शंकराचार्य) का था अद्भुत मस्तिष्क और दूसरे (चैतन्य) का था विशाल हृदय। अब एक ऐसे अद्भुत पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जिसमें ऐसा ही हृदय और मस्तिष्क – दोनों एक साथ विराजमान हों, जो एक साथ ही शंकर के प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क एवं चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से परिचालित हो रहे हैं और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत के तथा भारत के बाहर के दीन, दुर्बल, पतित सबके लिये द्रवित हो; लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों की परिकल्पना करे, जिनसे भारत में तथा भारत के बाहर सब विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौम धर्म को प्रकट करे।

एक ऐसे ही पुरुष ने जन्म ग्रहण किया और मैंने वर्षों तक उनके चरणों तले बैठकर शिक्षा-लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया। समय हो चुका था, एक व्यक्ति के आविर्भाव की आवश्यकता थी और उसने जन्म लिया। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि उसका समग्र जीवन एक ऐसे नगर (कलकत्ता) के पास व्यतीत हुआ, जो पाश्चात्य भावों से उन्मत्त हो रहा था, जो भारत के सब शहरों की अपेक्षा विदेशी भावों से अधिक भरा हुआ था। वह वहीं निवास करता था। परन्तु यह महा-प्रतिभाशाली व्यक्ति हर प्रकार के किताबी ज्ञान से रहित था और अपना नाम तक लिखना नहीं जानता था।* परन्तु हमारे विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े विद्वान् स्नातकों ने उनको एक महान् बौद्धिक प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया। वे अद्भुत महापुरुष थे – श्रीरामकृष्ण परमहंस।[२७]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

२१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. २१०; **२२.** वही, खण्ड ५, पृ. १५९; **२३.** वही, खण्ड ५, पृ. १५९-६०; **२४.** वही, खण्ड ५, पृ. १६०; **२५.** वही, खण्ड ५, पृ. १६०-६१; **२६.** वही, खण्ड ८, पृ. २७९-८०; **२७.** वही, खण्ड ५, पृ. १६१

* पाश्चात्य दृष्टिकोण से श्रीरामकृष्ण प्रायः निरक्षर थे, परन्तु बाद में शोध से पता चला कि वे थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना भी जानते थे।

❑❑❑

नाम की महिमा (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

राम एक तापस तिय तारी ।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

– श्रीराम ने तो केवल एक तपस्वी स्त्री का उद्धार किया, परन्तु उनके नाम ने करोड़ों दुष्ट बुद्धिवालों को सुधार दिया।

रिषि हित राम सुकेतु सुता की ।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।
सहित दोष दुख दास दुरासा ।
दलइ राम जिमि रबि निसि नासा ।। १/२४/३-५

– श्रीराम ने तो ऋषि विश्वामित्र के हितार्थ, सेना तथा पुत्र सुबाहु सहित सुकेतु-कन्या ताड़का का वध किया, परन्तु उनके नाम ने अपने भक्तों के दोषों, दु:खों तथा दुराशाओं का वैसे ही नाश कर दिया जैसे सूर्य रात्रि का।

भंजेउ राम आपु भव चापू ।
भव भय भंजन नाम प्रतापू ।।

– स्वयं श्रीराम ने तो भव अर्थात् शिवजी के धनुष को तोड़ दिया, परन्तु उनके नाम का प्रताप भव अर्थात् संसार के समस्त भयों का नाश करने वाला है।

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज, समुपस्थित सन्त-मण्डली, कथा-रसिक महानुभाव और भक्तिमती देवियो !

त्रेतायुग में भगवान राम ने मनुष्य रूप में अवतार लिया और उस समय जो दुष्ट राक्षस थे, उन्हें दण्डित किया। जो लोग किसी कारणवश शोकग्रस्त थे, उन्हें शोक से मुक्त किया और अन्त में रामराज्य की स्थापना हुई। नाम-रामायण में गोस्वामीजी बताते हैं कि वे समस्याएँ केवल त्रेतायुग में नहीं थीं, वे आज भी हमारे अन्तर्जीवन में विद्यमान हैं। यदि हम सही रूप में नाम-साधना का आश्रय लें, तो हमारे अन्तर्जीवन में त्रेतायुग के जो पात्र विद्यमान हैं, उनका भी वैसे ही विनाश या उद्धार होगा और अन्त में हमारे हृदय के रावण का वध होगा और रामराज्य की स्थापना होगी।

नाम-रामायण का यह अर्थ नहीं है कि यह कोई भिन्न प्रकार का – नाम का इतिहास होगा। वस्तुत: यदि हम नाम-रामायण शब्द पर और जिन पंक्तियों में नाम-रामायण लिखी गई है, उन पर ठीक-ठीक ध्यान दें, तो विषय स्पष्ट हो जायेगा। इसीलिए इस बार की कथा में चरित्र और घटनाओं की प्रधानता नहीं हैं, बल्कि इस ओर संकेत किया जा रहा है कि कैसे उस काल के चरित्र तथा घटनाएँ हमारे अन्तर्जीवन में विद्यमान हैं। यदि हम सही ढंग से नाम-जप कर रहे हैं, नाम-साधना का आश्रय लेकर चल रहे हैं, तो हमारे अन्तर्जीवन में भी त्रेतायुग की घटनाएँ घटित होनी चाहिए और यदि वे नहीं घटित हो रही हैं, तो इसका अर्थ है कि हमारे जीवन में भगवान के नाम का प्राकट्य सही अर्थों में नहीं हुआ है।

उपरोक्त पंक्तियों में गोस्वामीजी भगवान श्रीराम तथा उनके नाम के बीच तुलना करते हुए कहते हैं कि श्रीराम ने अवतार लेकर केवल एक अहल्या का उद्धार किया, परन्तु उनके नाम द्वारा कुबुद्धि में परिणत हो चुकी कोटि-कोटि बुद्धि-रूपा अहल्याओं का उद्धार होता है। भगवान श्रीराम ने सुकेतु राजा की कन्या ताड़का का वध किया; मारीच तथा सुबाहु की समस्या का समाधान किया। दूसरी ओर हमारे अन्तर्जीवन में भी द्वैत-बुद्धि तथा क्रोध-वृत्ति रूपी दुराशा के रूप में ताड़का विद्यमान है। यदि हम सही अर्थों में नाम का आश्रय लेंगे, तो हमारे जीवन से द्वैत-बुद्धि मिटेगी, क्रमश: हमारे अन्तर्मन के दोषों का परिवर्तन और अन्तत: भगवान में उनका विलय होगा। इसके बाद भगवान राम के चरित्र में आगे घटित होनेवाली घटनाओं का वर्णन करते हुए कहा गया कि श्रीराम ने शंकरजी का धनुष तोड़ा और नाम के द्वारा भी शिव-धनुष टूटता है। भगवान ने अन्त में रावण का वध किया; और गोस्वामीजी कहते हैं कि सही अर्थों में भगवान का नाम-जप करने पर हमारे अन्तर्जीवन के मोह का नाश होता है और हमारे हृदय में रामराज्य की स्थापना हो जाती है।

मारीच की चर्चा चल रही थी। मारीच की समस्या बड़ी जटिल है, क्योंकि यह हमारे मन की समस्या है। मन की समस्या का समाधान कैसे हो? इस प्रकरण में अन्त:करण के शोधन की पद्धति का वर्णन है। अन्त:करण-चतुष्टय से आप परिचित होंगे। **मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार – यही अन्त:करण-चतुष्टय है।** जिसमें संकल्प विकल्प उठता है, या जिसके माध्यम से हम विषयों का रस लेते हैं, विषयों का भोग करते हैं – वह **मन** है। जिसके द्वारा हम निर्णय करते हैं, वह **बुद्धि** है। सब कुछ करने के बाद जहाँ पर कर्तृत्व का

-भाव उदय होता है कि मैंने ऐसा किया – यही **अहंकार** है। इन तीनों के पीछे – हमारी बुद्धि के निर्णय में, हमारे मन की वृत्तियों में तथा हमारे अहं के भी अन्तराल में, जो प्रेरक संस्कार विद्यमान हैं, वही वस्तुत: **चित्त** है।

साधना का मूल उद्देश्य यह है – इन चारों में परिवर्तन लाना। यदि किसी एक में ही परिवर्तन हुआ, तो अपने ही अन्त:करण में निरन्तर एक संघर्ष चलता रहेगा। मान लीजिए हमारी बुद्धि शुद्ध हो जाय, बुद्धि ठीक-ठीक समझने लगे, लेकिन मन की प्रवृत्तियाँ ज्यों-की-त्यों बनी रहें, तो मन तथा बुद्धि के बीच अन्तर्द्वन्द्व चलता रहेगा, आपसी टकराहट होती रहेगी। इसी प्रकार यदि सब कुछ करने के बाद हमारे कर्तृत्व की वृद्धि हो, तो अहंकार के रूप में वह हमारे लिए समस्या बनेगा। और सबसे अधिक समस्या तो है – पूर्व-पूर्व जन्मों से चित्त में जो संस्कार संग्रहित है, उनका विनाश कैसे हो।

आप ध्यान से नाम रामायण को पढ़ें। इसमें बताया गया है कि नाम-जप के द्वारा अन्त:करण-चतुष्टय में पवित्रता कैसे आ सकती है। नाम-जप का उद्देश्य क्या है? जब हम जिह्वा के द्वारा नाम-जप करते हैं और जिह्वा के साथ मन को जोड़ते हैं, तो इसका उद्देश्य है – मन की चंचलता और मन के दोषों को मिटाना। जब हम विचारपूर्वक नाम के तत्त्व का चिन्तन करते हैं, नाम के अर्थ पर विचार करते हैं, तो इसका उद्देश्य है बुद्धि में आये हुए दोषों को मिटाना। जब नाम के माध्यम से हमारे व्यक्तित्व में ईश्वर प्रतिष्ठित हो जाते हैं, अपने स्वयं के नाम के स्थान पर जब भगवान का नाम स्थित हो जाता है, तो हमारा अहंकार समाप्त हो जाता है। नाम-जप जब जिह्वा से अर्थात् वैखरी या वाणी से प्रारम्भ होकर तुरीयावस्था की स्थिति में भी होता रहता है, तब उसके द्वारा चित्त की समस्या का समाधान होता है। इस चर्चा में हम लोग अन्त तक तो पहुँच ही नहीं सकेंगे। पूरे नाम-रामायण की चर्चा समाप्त कर पाना मेरे लिए असम्भव है।

मन की चर्चा आरम्भ हुई थी। मारीच मन का ही एक रूप है। गोस्वामीजी ने मन के कई प्रतीक चुने हैं। केवल संकेत के रूप में मैं आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। विवाह के प्रसंग में जब वे भगवान श्रीराम के घोड़े का वर्णन करते हैं और उसकी तुलना मनोज से करते हैं, तो वहाँ घोड़ा भी मन का ही एक प्रतीक है। बाद में बन्दरों को भी भगवान की प्राप्ति होती है। ये बन्दर भी मन के ही प्रतीक हैं। इन तीनों में एक बात समान है। मन अत्यन्त चंचल है। बन्दर भी चंचल होता है और घोड़ा भी चंचल है। परन्तु ये तीनों तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के मन हैं। इनमें से एक तो सिद्ध मन है, दूसरा साधक का मन है और तीसरा विषयी का मन है।

हनुमानजी बन्दर हैं। हनुमानजी का बन्दर के रूप में वर्णन किया गया है। उनके जीवन में चंचलता भी है, परन्तु उस चंचलता का भी बड़ा दिव्य सदुपयोग है। वह एक सिद्ध मन है। आपने बन्दर का स्वभाव देखा होगा – वह कभी एक स्थान पर अधिक देर स्थिर भाव से बैठ नहीं पाता। वृक्ष पर जब बैठता है, तो एक डाली से दूसरी डाली पर छलाँगे लगाता रहता है। मन का भी यही स्वभाव है – वह छलाँगे लगाता रहता है। परन्तु बन्दर भी भगवान को पा सकता है और इसके द्वारा यह संकेत दिया गया कि मन तो चंचल है ही, परन्तु चंचल मन का भी सदुपयोग किया जा सकता है। किसी ने हनुमानजी से कहा – आपने तो समुद्र को पार कर लिया। वे बोले – मैंने तो बन्दर की प्रकृति का ही प्रयोग किया। – क्या? – बन्दर छलाँगे ही तो लगाता है। मैंने जरा एक लम्बी छलाँग लगा ली। और वह छलाँग इतनी लम्बी थी कि उसने उन्हें भक्तिदेवी के चरणों तक पहुँचा दिया।

शास्त्रों में मन के नियंत्रण की दो पद्धतियाँ हैं। एक तो योग की पद्धति है – किसी बिन्दु या किसी मूर्ति या किसी अक्षर पर ध्यान को केन्द्रित करना और मन को गतिशून्य बनाने की चेष्टा करना। इस पद्धति द्वारा मन को इतना निरुद्ध कर दीजिए, बन्दी बना लीजिए, या मन की सत्ता को ही समाप्त कर दीजिए, ताकि आप मन की चंचलता से उत्पन्न होनेवाले उसके दुष्परिणामों से बच जायँ।

व्यक्ति का मन अपनी चंचलता के कारण जिस प्रकार बदलता रहता है, उसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका (८१) में लिखा है –

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ, मन जरत त्रिबिध जुर, फिरत सदा बौराई।।
कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ, हठ बियोग-बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई।।
कबहुँ दीन, मतिहीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत, कबहुँ धर्मरत ग्यानी।।
कबहुँ देव जग धनमय रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति-संनिपात नाना दुख, बिनु हरिकृपा न नासै।।

तो मन का स्वभाव यह है कि वह एक स्थान पर स्थिर नहीं होता, निरन्तर छलाँगे लगाता रहता है। योग के द्वारा मन की समस्या का समाधान यही है कि हम इसे गतिशून्य बना दें। तो यदि हम योग की इस पद्धति से मन की समस्या का समाधान ढूँढ़ना चाहें, तो वह मार्ग भी बड़ा उत्कृष्ट है।

परन्तु भक्तिमार्ग में मन की समस्या का समाधान दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। योगी के ध्यान की पद्धति में तो किसी एक वस्तु में मन को केन्द्रित करना, परन्तु भक्त के ध्यान की पद्धति यह है कि वह भगवान की लीला से मन को जोड़ देता है और जब वह उनकी लीला का चिन्तन करता है, तो मन को भी एक अवकाश मिलता है। भक्तों के ध्येय कूटस्थ ब्रह्म न होकर, चलने-फिरने वाले भगवान हैं।

भक्तों के भगवान अवतरित होकर चलते-फिरते हैं, यात्रा भी करते हैं और उनके जीवन में घटनाएँ भी घटित होती हैं। जब आप रामायण पढ़ते हैं, या उसका ध्यान करते हैं, तो उसमें आपके मन को बन्दी बनाकर एक स्थान पर रोकना नहीं है। भगवान की लीलाओं में जैसे भगवान चल रहे हैं, भगवान जो व्यवहार कर रहे हैं, उसके साथ जब हम अपने मन को जोड़ देते हैं, तो मन को भी भाग-दौड़ का एक अवसर मिलता है और अन्तोगत्वा मन तथा उसकी भाग-दौड़ उसको भगवान के चरणों में ही सन्निविष्ट कर देती है।

इस प्रकार भक्ति-शास्त्र में चंचल मन के भी सदुपयोग का उदाहरण आपको हनुमानजी के चरित्र में मिलता है। गीतावली रामायण में एक सूत्र आता है – सीताजी ने जब मारीच को देखा, तो उन्होंने भगवान श्रीराम से कहा –

बैठे हैं राम लषन अरु सीता ।
पंचबटी बर परनकुटी तर,
कहैं कछु कथा पुनीता ।। ३/३/१

उसी समय मारीच सामने आता है। सीताजी मुस्कुराकर प्रभु से कहती हैं – "प्रभो, आप इस मृग को देखिए। इसके साथ दो ही प्रकार का व्यवहार किया जा सकता है।" – कैसा? – "यदि आप कृपा करके पकड़ लाइये, तो मैं इसे पाल लूँ। अच्छा रहेगा, आश्रम में यह मृग खेल के लिए एक अच्छा कौतुक रहेगा। इसलिए इसको आप पकड़ लाएँगे, तो मैं पाल लूँगी।" प्रभु ने कहा – अच्छा, यदि पकड़ में न आया, यदि भाग निकला तो? सीताजी ने कहा – तो फिर मार दीजिएगा। – तो मारने पर क्या होगा? – इसकी छाल बड़ी सुन्दर है, आपके बैठने के काम आयेगा –

पाए पालिबे जोग मंजु मृग,
मारेहु मंजुल छाला ।। गीतावली, ३/३/२

वह छाल कब बनेगा? मृग तभी मृगचर्म में परिणत होगा, जब उसकी चंचलता मिट जायेगी, उसका प्राण समाप्त हो जायेगा, उसमें विद्यमान रक्त समाप्त हो जायेगा। सीताजी मानो बँटवारा कर लेती है, या तो मेरे काम आ जाय या आप के काम आ जाय। यदि पकड़ में आ गया, तो मेरे पालने के लिए ठीक रहेगा और यदि मार दिया गया और मृगछाला बना, तो आपके बैठने के लिए ठीक रहेगा।

सीताजी ने संकेत किया कि मन या तो वशीभूत होकर भक्तिदेवी की क्रीड़ा का साधन बन जाय और नहीं तो मन गतिशून्य होकर, रक्तशून्य होकर, प्राणशून्य होकर चर्म के रूप में परिणत होकर अखण्ड ज्ञानघन श्रीराम का आसन बन जाय। भगवान ने यह बँटवारा मान लिया। उन्होंने मारीच पर प्रहार किया और उसका चमड़ा बनाकर उस पर बैठे। '!

पर सीताजी ने भगवान श्रीराम से कहा था कि मैं मृग को पालना चाहती हूँ। प्रभु ने हनुमानजी को लंका क्यों भेजा? हनुमानजी भी मृग ही हैं। बन्दरों के लिए रामायण में मृग शब्द ही आया है, परन्तु मृग के साथ एक शब्द और जुड़ा हुआ है – बन्दर शाखामृग है –

साखा मृग कै बड़ि मनुसाई ।
साखा तें साखा पर जाई ।। ५/३२/७

हनुमानजी को सीताजी के पास भेजने का तात्पर्य यह है कि आपके हृदय में इच्छा थी कि मृग मिल जाय तो मैं पाल लूँ। पहले मृग को तो मारना पड़ा और वह आसन के काम में आ गया। पर आपके पालने हेतु मैं एक दूसरा मृग भेज रहा हूँ। यह मृग आपके पालने योग्य है। और हनुमानजी के रूप में जो मृग गया, उसे भक्तिदेवी का दुलारा मृग कह लीजिये, या भक्तिदेवी द्वारा पालित मृग कह लीजिये। इस मृग में भी गति है, यह भी स्थिर नहीं दिखाई देता, लेकिन इसने अपनी छलाँग का, समुद्र को पार करके भक्तिदेवी की दिशा में जाने के लिये सदुपयोग किया। हनुमानजी के रूप में मन की जो स्थिति है, वह सिद्ध मन की स्थिति है। सिद्ध मन में भी गति दिखाई देती है, पर वह गतियुक्त मन एकमात्र भगवान और भक्ति को छोड़कर, कभी भी गलत दिशा में या गलत चिन्तन में प्रवृत्त नहीं होता। मन का एक रूप यह है।

मन का दूसरा रूप घोड़ा है। प्रतीक बड़े सांकेतिक चुने गये है। घोड़ा चंचल होना चाहिए या सुस्त होना चाहिए। घोड़े की प्रशंसा तो उसके शान्त स्वभाव के लिये नहीं होती। क्या कभी कोई ऐसी भी प्रशंसा करता है कि यह घोड़ा बहुत शान्त है, गधे की तरह धीरे-धीरे चलता है! घोड़े की प्रशंसा तभी होगी, जब उसमें गति होगी। जब भगवान श्रीराघवेन्द्र दूल्हे के रूप में घोड़े पर बैठे, तो घोड़ा बड़ा चंचल है। हर क्षण उसके पैर में तीव्र गति है – वह धरती पर ऐसे पैर चला रहा है, मानो पाँव जलते हुए लोहे पर पड़ते हों –

अय इव जरत धरत पग धरनी ।। १/२९७/५

गोस्वामीजी ने बड़ा सार्थक चुनाव किया। पूछा गया – यह कौन है? तो वे 'मनसिज' शब्द का प्रयोग करते हैं – मानो मनसिज कामदेव ही श्रीराम के लिए घोड़े का वेष बनाकर अत्यन्त शोभित हो रहा है –

जनु बाजि वेषु बनाइ मनसिजु
राम हित अति सोहई ।। १/३१६ छं

भक्त लोग अपने मन की चंचलता का भी सदुपयोग कर लेते हैं। भक्तों के पास भगवान को अपनी ओर आकृष्ट करने की अनेक कलाएँ हैं। वे अँधेरे का भी सदुपयोग कर लेते हैं और चंचलता का भी सदुपयोग कर लेते हैं। आपने वह प्रसिद्ध श्लोक सुना होगा। भगवान श्रीकृष्ण किसी गोपी के घर में मक्खन चुराने गये, लेकिन अचानक गोपी ने पुकारा, तो भाग खड़े हुए। एक भक्त ने यह देख लिया और कहा – उधर नहीं, इधर आइए। – क्यों? बोले – आप छिपना

चाहते हैं न ! तो मेरे हृदय में छिप जाइए। भगवान ने कहा – तुम्हारे हृदय की ऐसी क्या विशेषता है? उसने कहा – मेरे हृदय में अँधेरा-ही-अँधेरा है और चोर को छिपने के लिए अँधेरा ही तो चाहिए। इसलिए यदि आपको छिपना हो, तो आप किसी उज्ज्वल हृदय वाले व्यक्ति के हृदय में मत जाइये, मेरे हृदय में आ जाइये –

क्षीरसारमहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि परायण त्वया ।
मम मानसे घनान्ध-तामसे नन्दनन्दन-कथन्न वियस ।।

महाराज, बहुत बढ़िया अवसर मिला, हम इसी समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। हमने तो सुना था कि जिनका अन्त:करण उज्ज्वल होता है, उन्हीं के हृदय में आपका निवास होता है। उज्ज्वल हृदय में तो आप पकड़ लिए जाएँगे, पर मेरे हृदय में अँधेरा है और आपका रंग भी श्याम है, आप ऐसे विलीन होंगे कि आपको कोई पकड़ नहीं सकेगा। आज मेरे हृदय की कालिमा भी धन्य हो जायेगी। भक्त कहते हैं – अन्धकार जब अपने को भगवान से एकाकार कर लेता है, तो वह भी सार्थक हो जाता है। कितनी सुन्दर बात है ! यह श्यामता क्या है? दिन है, रात्रि है, या अन्धकार है? यही बात चन्द्रमा की श्यामता में भी है। भक्तों ने श्यामता का क्या अर्थ लगाया है? बड़ी सांकेतिक भाषा है। हनुमानजी कहते हैं – हे प्रभो ! सुनिए, चन्द्रमा आपका प्रिय दास है। आपकी सुन्दर श्याम-मूर्ति उसके हृदय में बसती है, वही श्यामता की झलक चन्द्रमा में दिखाई देती है –

कह हनुमंत सुनहु प्रभु
ससि तुम्हार प्रिय दास ।
तव मूरति बिधु उर बसति
सोइ स्यामता अभास ।। ६/१२

हमारी श्यामता केवल तभी तक वह कलंक या दु:ख या दोष है, जब तक भगवान से पृथक् है। परन्तु जब हमारी श्यामता भगवान की श्यामता से मिल जाती है, तो वह श्यामता भी धन्य हो जाती है।

विवाह में परछन का लोकाचार आपने देखा होगा, उसमें दूल्हे को घोड़े पर बिठा कर ससुर के द्वार पर आने की परम्परा है। आज तो वह परम्परा मात्र ही रह गया है – न दूल्हा घोड़े पर बैठना जानता है, न चलाना जानता है। किराये का घोड़ा आता है। दूल्हा उस पर बैठ जाता है और सईस लगाम पकड़कर धीरे-धीरे घोड़े को ले जा रहा है। लोग प्रसन्न हो जाते हैं कि दूल्हा घोड़े पर बैठकर आ गया।

भगवान राम जब घोड़े पर चढ़कर महाराज जनक के द्वार पर आये, तो गोस्वामीजी ने भगवान को चुनौती दे दी – महाराज, घोड़ा तो मन की योग्यता की परीक्षा है। – कैसे? – चंचल-से-चंचल घोड़े पर चढ़कर यदि लगाम को छोड़ दें, तो घोड़ा न जाने किस दिशा में भागेगा और कब वह सवार को नीचे पटक देगा इसका कोई ठिकाना नहीं है। घोड़े की इस चंचलता से व्यक्ति को महान् संकट और दु:ख मिल सकता है। तो इस घोड़े की क्या विशेषता होनी चाहिए? विवाह के द्वारा जीवन में काम को स्वीकृति मिलती है। जब कोई व्यक्ति अपने जीवन में काम को स्वीकार करने जा रहा है, मन से उत्पन्न होने वाले मनोज को स्वीकार करने जा रहा है, तब देखना होगा कि उसके चरित्र में मानसिक चंचलता का सदुपयोग करने की क्षमता है या नहीं? इसलिए गोस्वामीजी भगवान से बोले – ''महाराज, आपकी योग्यता की सार्थकता तभी सिद्ध होगी, जब आप किसी चंचल-से-चंचल घोड़े को वश में करके दिखायें, तो घोड़ा मैं ही दिए दे रहा हूँ।''

उन्होंने मन या मनोज के रूप में घोड़ा भगवान के सामने कर दिया। बड़ा विचित्र दृश्य है, घोड़ा है मनोज – मन से जन्म लेनेवाली जो अनेक वृत्तियाँ हैं, उनमें सबसे मुख्य है मनोज या कामदेव और उस पर बैठे हुए हैं श्रीराम। बड़ा अद्भुत दृश्य है। कल्पना यह थी कि जहाँ राम होते हैं वहाँ काम नहीं होता और काम होता है वहाँ राम नहीं होते –

जहाँ राम तहँ काम नहीं जहाँ काम नहि राम ।
तुलसी कबहुँ न रह सकइ रवि रजनी इक ठाम ।।

लेकिन यह दृश्य तो बड़ा अनोखा है, क्योंकि इसमें राम और काम – दोनों एक साथ दिखाई दे रहे हैं। और सबसे अद्भुत दृश्य तो तब हुआ जब भगवान शंकर भी उस विवाह में सम्मिलित होने आए। भगवान शंकर कामारि हैं और जब उन्होंने दूल्हे के वेश में भगवान राम को देखा और घोड़े की ओर दृष्टि डाली, तो उन्हें लगा कि घोड़ा बड़ी व्यंग्य-भरी दृष्टि से उनकी ओर देख रहा है। घोड़ा मानो शंकरजी को चुनौती दे रहा था – ''उस दिन तो जब मैं आपके सामने आया, तो आपने मुझे जला दिया था; अब आज जलाइए तो जानूँ।'' शंकरजी ने कहा – जरा राम से अलग हो जाइए तो जानें ! तो उसमें संकेत-सूत्र यह है कि इस चंचल घोड़े पर श्रीराम आसीन हैं – काम पर राम हैं।

भगवान राम घोड़े की पीठ पर सवार हैं, परन्तु वे हनुमानजी की पीठ पर भी सवार हुए हैं। इसका तात्पर्य है – मन पर या काम की वृत्ति पर ईश्वर का आरूढ़ होना, काम पर राम का नियंत्रण। किसी ने भगवान से पूछ दिया – ''महाराज, लगता है कि आपका दरबार तो बड़ा अन्धाधुन्ध है। एक दिन तो आप हनुमानजी की पीठ पर बैठ गये, जो कामारि शंकरजी के अवतार और दूसरे दिन घोड़े की पीठ पर बैठ गये, जो कामदेव हैं; तो क्या आपको काम और कामारि में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता? भगवान बोले – ''हाँ, मैं हनुमानजी की पीठ पर बैठा और घोड़े पर भी बैठा, पर एक बहुत बड़ा अन्तर देखने में आया। हनुमानजी की पीठ पर बैठा तो कह दिया – तुम जिधर भी ले चलो, मैं उधर ही

चलूँगा। परन्तु जब घोड़े की पीठ पर बैठा तो बोला – जिधर मैं कहूँगा, उधर ही चलना।'' हनुमानजी का ऐसा सिद्ध मन है, जिस पर आरूढ़ होकर भगवान को उस पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता नहीं होती। प्रभु उन्हीं से पूछ देते हैं – तुमने तो मुझे धारण कर लिया, अब तुम मुझे जहाँ कहीं भी ले जाओगे, मेरा सदुपयोग ही करोगे। इसलिए तुम पर किसी नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। तुम जिधर कहोगे, मैं उधर ही जाऊँगा। हनुमानजी ने कहा – तो चलिये पर्वत पर, जहाँ आपके दास वानरों के राजा सुग्रीव रहते हैं –

नाथ सैल पर कपिपति रहई।
सो सुग्रीव दास तव अहई।। ४/४/२

हनुमानजी प्रभु को अपनी पीठ पर बैठाते हैं और ले जाकर सुग्रीव से मित्रता कराते हैं।

तो दोनों की स्थिति में अन्तर यही है कि जो सिद्ध का मन है, उस पर नियंत्रण करने या लगाम लगाने की कोई अपेक्षा नहीं है। वह ऐसा मन हो चुका है, जो कभी बुरी दिशा में जा ही नहीं सकता। पर जो कामयुक्त मन है, उसको नियंत्रित करना होगा। भगवान दोनों की पीठ पर बैठे। उन्होंने कहा – लेकिन उपयोग तो दोनों का एक ही है। – कैसे?

मन के तीनों सन्दर्भों में सीताजी जुड़ी हुई हैं – मारीच के सन्दर्भ में, घोड़े के सन्दर्भ में और हनुमानजी के भी सन्दर्भ में। भगवान जब दूल्हे के रूप में घोड़े के पीठ पर बैठे, तो भी सीताजी को पाने के लिए और हनुमानजी की पीठ पर बैठे तब भी सीताजी को पाने के लिए। मुख्य उद्देश्य तो भक्ति रूपी सीताजी को पाना है – फिर मन चाहे चंचल हो, या निरुद्ध मन हो, या फिर वह मन वैसा हो गया हो, जैसा कि प्रभु कहते हैं – मुझे तो अपने मन पर पूर्ण विश्वास है कि जिसने स्वप्न में भी पराई स्त्री पर दृष्टि नहीं डाली है –

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी।।
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी।। १/२३१/६-७

भगवान ने मन की जिस विशुद्धता की ओर संकेत दिया, वह सिद्ध मन का – जिसके स्वरूप हैं हनुमानजी और उनकी पीठ पर भगवान स्थित हैं। पर इतना ही नहीं, और भी एक बड़ा विलक्षण संकेत है। हनुमानजी के हृदय में भगवान राम और श्रीसीताजी तो पहले से ही विराजमान हैं –

जासु हृदय आगार बसहि राम सर चाप धर।। १/१७

इसका अभिप्राय यह है कि अधिकांश लोगों के जीवन में आगे कुछ और पीछे अन्य कुछ होता है। पर हनुमानजी को सामने से देखिए, तो उनके हृदय में भगवान हैं और पीछे से देखिए तो भी पीठ पर भगवान ही विद्यमान हैं। केवल हृदय तथा पीठ पर ही नहीं, उनके तो रोम-रोम में श्रीराम हैं, भगवान का दिव्य नाम है। इस प्रकार हनुमानजी का स्वरूप सिद्ध मन का स्वरूप है।

हनुमानजी बन्दर क्यों बने? शंकरजी ने बन्दर का रूप क्यों स्वीकार किया। इसका भी उत्तर हनुमानजी ने दिया है। जब वे लंका-दहन करके वापस लौटे, तो प्रभु उनकी प्रशंसा करने लगे। हनुमानजी के विषय में तो आपने सुना होगा कि वे निरन्तर प्रभु के चरणों की ओर ही देखते रहते हैं, पर जब प्रशंसा सुनी तो वे प्रभु के मुख की ओर देखने लगे –

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख ... ।। ५/३२

इस पर प्रभु ने हनुमानजी की ओर देखते हुए कहा – तुम्हारी दृष्टि चरण से हटकर मुख पर आ गई, लगता है अब चरण का आकर्षण समाप्त हो गया है, तभी तो तुम ऊपर देख रहे हो ! संकेत है – उनके नेत्र चरण से उठकर मुख पर गये और मुख से उतरकर चरण पर आ गये। परन्तु जब प्रभु ने पूछा कि मुख की ओर देखने का तात्पर्य क्या है, तो हनुमानजी बोले – प्रभो, जब आप प्रशंसा करने लगे, तो मुझे नारदजी की याद आ गई कि एक दिन आपने उनकी भी तो प्रशंसा की थी ! मैं आपका मुख देखने लगा कि कहीं वैसा ही मुख तो नहीं है, जैसा नारद की प्रशंसा करते समय था। क्योंकि आप जब नारद की प्रशंसा कर रहे थे, उस समय आपके मुख पर रुक्षता छाई हुई थी –

रूख बदन करि बचन मृदु ...।। १/१२८

नारदजी ने आपके द्वारा किये हुए प्रशंसा के शब्दों को तो सुना, पर यदि उन्होंने वाणी के साथ मुख की ओर भी देखा होता कि प्रभु के शब्द में तो इतनी कोमलता है, किन्तु मुख पर इतनी रुखाई का क्या कारण है, तो उनकी वैसी दुर्गति नहीं हुई होती। हनुमानजी ने कहा – प्रभो, नारदजी की बात मैं नहीं भूला हूँ, इसीलिए मैंने तो पहले से ही एक उपाय कर लिया है और एक अन्य उपाय अब कर लूँगा। – क्या? बोले – प्रभो, आपने नारदजी की प्रशंसा किया और उन्हें अभिमान हुआ, तो आपने उनको बन्दर बना दिया, इसलिए मैं पहले से ही बन्दर बनकर आ गया हूँ। अब इस बन्दर को और क्या बनाइएगा ! जो आपका बन्दर हो चुका है, वह अब काम का बन्दर तो हो नहीं सकता। तो ऐसी स्थिति में –

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख
गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल
त्राहि त्राहि भगवंत।। ५/३२

चरणों में पड़े-पड़े ही बोले – प्रभो, यदि गिरना भी पड़े, तो मैं किसी ऐसे कोमल स्थान में गिरूँगा कि जहाँ चोट न लगे। आपके चरण ही वह स्थान है, जहाँ गिरने से व्यक्ति को न चोट लगती है और न ही उसकी दुर्गति होती है।

❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❖ (क्रमशः) ❖ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑

चिन्ता का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

संसार में ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो चिन्ता न करता होगा? चिन्ता तो मनुष्य के स्वभाव में है। कोटिपति से लेकर पथ के भिखारी तक – सभी इस चिन्ता-ताप से तप्त रहते हैं। जब मैं बालक था, तब लगता था कि जो बँगले में रहता है, कार में इधर-उधर आना-जाना करता है, जिसके इशारे पर दर्जनों नौकर नाचते रहते हैं, वह निश्चिन्त और सुखी होता होगा। पर अब जब इस श्रेणी के बहुत-से लोगों से परिचित होने का मौका लगता है, तो देखता हूँ कि मेरी पूर्वधारणा गलत थी। ऐसे व्यक्ति भी चिन्ताग्रस्त रहते हैं, बल्कि यदि ऐसा कहें कि गरीब या सामान्य व्यक्ति की तुलना में ये धनपति अधिक चिन्ताग्रस्त रहते हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

चिन्ता को चिता कहकर पुकारा गया है। चिता की आग के समान यह चिन्ता भी जलाती है। अन्तर इतना है कि चिता की आग बाहर दिखायी देती है और उसे जल डाल कर बुझाया जा सकता है, पर चिन्ता की आग दिखती नहीं, वह भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती है। वह मन की आग है और इसलिए वह बाहर के जल से शान्त नहीं होती। उसे बुझाने के लिए मन का ही जल चाहिए।

मन के जल का मतलब है मानसिक वृत्ति। चिन्ता यदि एक मानसिक वृत्ति है, तो उसको बुझाने वाला जल भी मानसिक वृत्ति ही है। हमारा सोचने का तरीका चिन्ता को जन्म देता है और सोचने का यही तरीका उसे बुझाने वाले जल का काम देता है। कुछ लोग छोटी-छोटी बात पर चिन्तित हो उठते हैं। बच्चा यदि स्कूल से लौटने में तनिक विलम्ब कर दे, तो माता-पिता चिन्ता से परेशान हो जाते हैं। यदि लड़का बाहर किसी शहर में पढ़ता हो और सात दिन उसकी चिट्ठी नहीं आयी, तो माता-पिता अनमने हो जाते हैं और उनकी यह चिन्ता उनके समस्त व्यवहारों में झलकने लगती है। जब तक परीक्षाफल घोषित नहीं होता है, कई विद्यार्थी ऐसे होते हैं, जो चिन्ता के मारे पेट-भर भोजन भी नहीं कर पाते हैं। यदि लड़का फीस पटाने के लिए रुपया ले जा रहा हो, तो माता-पिता को चिन्ता लगी रहती है कि वह पैसा कहीं गुमा तो नहीं देगा और जब तक लड़का लौट आकर फीस की पावती नहीं दे देता, तब तक वे स्वस्ति की साँस नहीं ले पाते। किसी को यही चिन्ता बनी रहती है कि उसकी चीजें चोरी तो नहीं चली जाएँगी। कोई चिट्ठी पाने की चिन्ता में बार-बार घर से बाहर निकल कर डाकिये का रास्ता जोहता रहता है। कॉलेज के दिनों में मेरा एक सहपाठी था, जो मेरे छात्रावास में रहा करता था। उसे चिट्ठी की ऐसी चिन्ता सताती थी कि वह सुबह से डाकिये के इन्तजार में न तो कुछ पढ़ सकता था और न कुछ कर सकता था, चिट्ठी न आने पर उदास हो जाता और बाकी दिन भी वह पढ़ नहीं पाता था।

ये मात्र कुछ उदाहरण हैं। तो चिन्ता किसी समस्या का हल नहीं करती, अपितु वह एक नयी समस्या पैदा कर देती है। आज असंख्य लोग चिन्ता के कारण सो नहीं पाते। उन्हें नींद की गोली लेनी पड़ती है। तो क्या चिन्ता का निदान नहीं है? – है और वह है स्वस्थ चिन्तन का अभ्यास। हमारा दिल और दिमाग जितना मजबूत होता है, हमें चिन्ता उतनी ही कम सताती है। दिल और दिमाग की मजबूती का मतलब है – विधेयात्मक और रचनात्मक विचार करने की मन में आदत डालना। सोचने का निषेधात्मक तरीका आशंकाओं और कुशंकाओं को जन्म देता है। किसी भी मुद्दे के केवल अन्धकारमय पक्ष को देखना चिन्ता के लिए खाद का काम करता है। जब हम सोचेंगे तो अवश्य ही पक्ष और विपक्ष दोनों पर विचार करेंगे, पर केवल विपक्ष का ही चिन्तन करना चिन्ता को जन्म देता है। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में चिन्ता एक रोग है, जिसकी चिकित्सा की जानी चाहिए। यदि समय पर इलाज न किया गया, तो वह अनिद्रा, तनाव और हताशा को जन्म देता है। इलाज है अपने को हर दम स्वस्थ विचारों और विधेयात्मक कार्यों में लगाये रखना। ❑

आत्माराम के संस्मरण (२३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

त्रिवेन्द्रम (१९२६)

संन्यासी कन्याकुमारी से त्रिवेन्द्रम (तिरुअनन्तपुरम्) गया। वहाँ के राजपुत्र उस समय नाबालिक थे, इसलिये महारानी राज्य कर रही थीं। वह श्री नायर का अतिथि हुआ है, जो रामकृष्ण संघ के संन्यासी नाथजी (स्वामी निष्कामानन्द) के भाई थे। वकील थे। वहाँ के समुद्र की तटभूमि विशाल है तथा दूधिया रंग की सफेद बालुका-राशि से परिपूर्ण है। वह एक अपूर्व दृश्य था। ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता।

एक दिन वह नायरजी के साथ समुद्र के किनारे टहलने जा रहा था। रास्ते में पुलिस ने रोकते हुए कहा – "देखते नहीं, नयी रेत बिछायी गयी है। अभी सब लोग भगवान पद्मनाभ की शोभायात्रा के साथ समुद्र-स्नान के लिये आ रहे हैं। बाजे की आवाज सुनाई पड़ रही है न ! आ रहे हैं। एक ओर खड़े हो जाओ।"

अत: दोनों एक विशाल राजमहल सरीखे भवन के द्वार के पास खड़े हो गये और पालकी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। पालकी के आगे-आगे नंगी तलवार हाथ में लिये स्वयं राजकुमार नंगे पाँव चल रहे थे। उनके शरीर पर एक उत्तरीय चादर मात्र बँधा हुआ था। सबका वैसा ही वेश था। बड़ा सुन्दर दृश्य था। देखकर संन्यासी बड़ा आनन्दित हुआ। जूलूस के निकल जाने के बाद पुलिस ने आगे जाने को कहा, परन्तु महल से एक व्यक्ति ने आकर संन्यासी का परिचय लिया और प्रतीक्षा कहने को कहकर अन्दर चला गया।

थोड़ी देर बाद वह आकर दोनों को भीतर ले गया। वहाँ एक आजानु-बाहु सुन्दर पुरुष मिले। ये भी नंगे-पाँव थे तथा श्वेत वस्त्र पहन रखे थे – शरीर पर केवल चादर बँधा हुआ था। नमस्कार करने के बाद बोले – "उद्यान में चलिये, वहाँ मेरा साधन-कुटीर है और बिल्कुल एकान्त है। बातचीत की जायेगी।" ये थे महारानी के पिता। आयु साठ के ऊपर रही होगी। बड़े धर्मप्राण व्यक्ति थे।

हम लोग उनके साथ एक विशाल नारियल के बगीचे में गये। उद्यान में भी सर्वत्र वही श्वेत बालुका-राशि बिछी हुई थी। अत्यन्त स्वच्छ। बिना देखे उसके सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। उद्यान में दो फीट ऊँचे प्लिंथ (कुर्सी) के ऊपर ईंटों का एक कुटीर बना हुआ था, जिसकी ऊपर से नारियल के पत्तों से सुन्दर छवाई हुई थी। कुटीर के चारों ओर की बाड़ भी नारियल के ही पत्तों की चटाइयों से बनी हुई थी। भीतर सफेद बालू। एक हिंडोला था – काठ की तख्त पीतल के जंजीरों से झूल रही थी। उन्होंने संन्यासी को हिंडोले पर बैठाया और स्वयं नीचे बालू के ऊपर बैठे; नायर भी उनके साथ ही बैठ गये।

उन्होंने योगशास्त्र विषयक दो-एक प्रश्न किये। लगभग आधे घण्टे योग पर चर्चा चली। अन्त में वे थोड़ा हँसते हुए बोले – "रामकृष्ण देव हमारे घर आये थे। मैं तब छोटा था – ७-८ साल का रहा हुँगा। पिताजी के साथ समुद्र-तट पर टहलने गया था। देखा – वहाँ वृक्ष के नीचे एक संन्यासी इसी प्रकार बैठे हुए हैं। पिताजी उनके पास गये और नमस्कार आदि करते ही समझ गये कि संन्यासी बड़े विद्वान् हैं। उन्होंने उन्हें हमारे घर आने का निमंत्रण दिया, परन्तु संन्यासी राजी नहीं हुए; बोले – "वे किसी के घर में नहीं रहते। इसके बाद पिताजी मुझे लेकर घर लौट आये और मेरे ही हाथों कुछ फल भेज दिया। मैंने वे फल ले जाकर रामकृष्ण परमहंसजी को दे दिये थे। बाद में वे कुछ दिन एक प्रोफेसर के घर में रहे। बीच-बीच में वे हमारे घर भी आया करते थे। पिताजी उनके लिये फल-मूल भेज दिया करते थे।" आदि आदि।

संन्यासी ने विनयपूर्वक कहा – "क्षमा करेंगे, रामकृष्ण परमहंस इधर कभी नहीं आये। जिन्हें आपने देखा था, वे स्वामी विवेकानन्द थे।"

बस, वे तन गये, उनकी आँखें फैल गयीं और बोले – "क्या? मैंने अपने हाथ से उन्हें फल दिये थे और आप कहते हैं कि वे इधर आये ही नहीं?"

इधर नाथजी के भाई संन्यासी को संकेत कर रहे थे कि तर्क करने से कोई लाभ नहीं है। संन्यासी भी समझ गया कि बातचीत के द्वारा इन वृद्ध का भ्रम दूर करना कठिन होगा; काफी समय लगेगा। इसीलिये वह विषय को बदलते हुए बोला – "रामकृष्ण देव की बृहत् जीवनी प्रकाशित हुई है, उसे पढ़ने पर बहुत-सी जानकारी मिलेगी। इनके पास है।" तब उन्होंने वह पुस्तक भेजने को कहा। इसके बाद वे बोले – "कल भी आइये। और भी प्रश्न हैं।"

अगले दिन निर्दिष्ट समय पर संन्यासी फिर जा पहुँचा। लगभग एक घण्टे तक केवल योगशास्त्र पर ही बातें हुईं। इसके बाद वृद्ध बोले – "आप आकर इस कुटिया में ही रहिये। खूब सत्संग होगा। भिक्षा आदि का कोई कष्ट नहीं होगा।" संन्यासी ने धन्यवाद देते हुए बताया कि सुविधा हुई तो वह सूचित करने का प्रयास करेगा।

वृद्ध ने पूछा – "भगवान पद्मनाभ की अनन्त-शयनम् मूर्ति का आपने दर्शन किया है क्या? वह मन्दिर हमारे पूर्वजों द्वारा बनवाया गया था। कल सुबह आठ बजे मन्दिर आइयेगा। मैं वहाँ उपस्थित रहूँगा और स्वयं ही सब दिखाऊँगा।"

संन्यासी तो पहले ही दर्शन आदि कर चुका था, परन्तु उसने यह सुयोग नहीं छोड़ा। अगले दिन सुबह आठ बजे के पूर्व ही स्नान आदि करके नायर को साथ लेकर वह मन्दिर में अनन्त-शयनम् का दर्शन करने गया। वृद्ध राजकुल के कुछ युवकों को साथ लेकर वहाँ पहले से ही हाजिर थे। दर्शन कराने मन्दिर में ले गये। संन्यासी दरवाजे तक जाकर खड़ा हो गया। भीतर अन्धकार था, इसलिये पुजारी कपूर का दीपक जलाकर दर्शन कराते हैं। भगवान अनन्त-शयनम् का दर्शन करते हुए संन्यासी ने पीछे मुड़कर देखा – वृद्ध तथा उनके संगीगण दरवाजे से कई हाथ दूर खड़े होकर दर्शन कर रहे थे। संन्यासी ने जब उन्हें निकट बुलाया, तो वे एक पाँव आगे बढ़कर ठहर गये। उनके नेत्र-मुख लाल हो गये; और इधर पुजारी भी बड़ी-बड़ी आँखें निकालकर उनकी ओर देखने लगा। संन्यासी ने और कुछ कहे बिना चुपचाप दर्शन कर लिया। इसके बाद वृद्ध उसे मन्दिर की स्थापत्य-कला, निर्माण-कौशल आदि दिखाने लगे। मन्दिर के सामने स्थित नाट्य-मण्डप का फर्श लगभग चालीस फीट चौड़े, उतने ही लम्बे और ढाई फीट मोटे एक ही विशाल पत्थर के टुकड़े से बना था; और उससे भी बड़े प्रस्तर-खण्ड से छत बना हुआ था। संन्यासी के पूछने पर उन्होंने बताया – "बहुत दूर – समुद्र के किनारे इस पत्थर की खान थी, अब भी है। वहाँ से इसे हाथियों की सहायता से लाया गया था और मन्दिर जितनी ऊँचाई के ही बालू के पहाड़ बनाकर, उस पर हाथियों को ले जाकर इस पत्थर को खींच-खींच कर चढ़ाया गया था।" आदि आदि। संन्यासी केवल सुनता रहा – उसके सिर में यह सब नहीं घुसा।

बाद में जब वे आस-पास की नक्कासी का काम दिखा रहे थे, तो संन्यासी ने अवसर देखकर उनसे पूछ लिया कि वे मन्दिर के द्वार तक न जाकर, दूर क्यों खड़े थे? पास गये बिना तो भलीभाँति दर्शन ही नहीं किया जा सकता!

वृद्ध – "वहीं तक जाने का हम लोगों को अधिकार है। आपके बुलाने पर मैं केवल आपके प्रति सम्मान-प्रदर्शन हेतु एक कदम आगे बढ़ा था।"

संन्यासी – "यह कैसी बात! आप लोग राजा हैं। मन्दिर आप लोगों का है और आपको द्वार तक भी जाने का अधिकार नहीं है! भूल आप ही लोगों की है। भीतर न गये, परन्तु दरवाजे तक क्यों नहीं जा सकेंगे?"

वृद्ध का मुख लाल हो गया। वे केवल इतना ही कह सके – "हम लोगों को अधिकार नहीं है।"

संन्यासी ने कहा – "यह किसी शास्त्र का नियम नहीं है और ऐसा नियम स्वीकार करना भी उचित नहीं है। भय किसका है? यह प्रतिबन्ध दूर करना ही उचित होगा। यदि ये युवक बलपूर्वक द्वार तक जायँ, तो पुजारी क्या कर सकता है? राजकुल के लिये यह अपमान सहन करना कदापि उचित नहीं है। यदि आप लोग साहस न दिखायें, तो फिर अन्य लोग भला क्या कर सकेंगे! इस बाधा को हटाना ही होगा। क्या कहते हैं आप लोग?"

युवकगण एक स्वर में बोले – "हम लोग आपके साथ पूरी तौर से सहमत हैं।"

संन्यासी – "तो फिर कल ही चलिये। मैं भी साथ रहूँगा, देखूँ क्या करता है!"

वृद्ध घबड़ाकर बोले – "नहीं नहीं, आप नहीं जायेंगे। मैं स्वयं ही इन लोगों को ले जाऊँगा। आपको यदि कुछ हुआ, तो मामला कुछ और हो जायेगा। आप ठीक ही कहते हैं, मैं स्वयं ही ले जाऊँगा।"

अगले दिन सुबह पूर्वोक्त समय पर संन्यासी ने जाकर देखा कि वृद्ध आ गये हैं और साथ में पिछले दिन के वे १०-१२ युवक भी हैं। सामने के सरोवर में स्नान करने के बाद गीले वस्त्रों में ही सबने मन्दिर में प्रवेश किया। संन्यासी दूर एक किनारे खड़ा देख रहा था। सभी लोग सीधे जाकर गर्भगृह के द्वार के पास पहुँच गये। देखते ही पुजारी की आँखें लाल हो गयीं, परन्तु उसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। शायद वह समझ गया था कि कुछ कहने से अपनी ही हानि होगी। परन्तु उसने कपूर जलाकर मूर्ति नहीं दिखायी।

बाहर आकर संन्यासी ने उन लोगों को खूब धन्यवाद देते हुए कहा – "आप लोग अपना यह अधिकार बनाये रखिये; तीन दिनों तक लगातार इसी प्रकार दर्शन करने से बाधा दूर हो जायेगी। प्रजा आप लोगों की जय-जयकार करेगी। यह पुरोहिती कलंक दूर करना ही होगा। ये नव-शिक्षित युवकगण तो यह कार्य अवश्य ही सम्पन्न करेंगे।"

युवक बड़े आनन्दित थे। निश्चय हुआ कि लगातार तीन दिन जायेंगे। वृद्ध ने संन्यासी से कहा – "आप मत आइयेगा। मैं ही इन लोगों को ले जाऊँगा।"

इस प्रकार अनेक वर्षों की बाधा दूर हुई। जय भगवान!!

* * *

यहाँ एक बात खूब विचारणीय है – उन्होंने पहले दिन जो कहा था कि रामकृष्ण देव त्रिवेन्द्रम गये थे और इन्होंने अपने हाथ से उनको फल दिये थे। यह उनकी भ्रान्त धारणा थी। स्वामी विवेकानन्द गये थे, पर ये भूलवश रामकृष्ण देव का नाम ले रहे थे। ये राजवंश के एक विशिष्ट व्यक्ति थे। यदि इनका यह निश्चय हो कि श्रीरामकृष्ण ही वहाँ गये थे और इन्होंने उन्हीं का दर्शन किया था। यदि वह राज्य के रेकार्ड में दर्ज हो जाय, तो फिर इतिहासकार लोग एक दिन उस अकाट्य प्रमाण के आधार पर इतिहास को वैसा ही कर लेंगे। सौ साल बाद यह तथ्य सामने आने पर सभी लोग इस विषय में असन्दिग्ध हो जायेंगे। तब श्रीरामकृष्ण को त्रिवेन्द्रम जाना ही होगा, भले ही वे वहाँ स्वप्न में भी न गये हों।

राज्यों के सारे अभिलेख पूर्णत: सत्य होते हैं – यह धारणा पूरी तौर से गलत है।

केरल की एक विचित्र प्रथा

संन्यासी जब १९२६ ई. में मलाबार का भ्रमण कर रहा था, तो उसे वहाँ के लोगों के साथ बड़े अपनत्व का बोध हो रहा था। उन लोगों का व्यक्तित्व तथा कुछ-कुछ रीति-रिवाज भी बिल्कुल बंगाल के जैसा लगा था। परशुराम ने गौड़ बंग से ब्राह्मणों को केरल-मलाबार में ले जाकर बसाया था, यह कल्पना नहीं, अपितु सत्य है। इसमें सन्देह नहीं कि नम्बूदरी ब्राह्मणों के मूल पुरुष गौड़ीय थे। तो फिर जगद्गुरु शंकराचार्य भी गौड़ीय या बंगाली हुए, यह नि:सन्देह बंगवासियों के लिये गौरव की बात है। परन्तु सभी गौड़ीय लोग अपनी स्त्रियों या सह-धर्मिणियों को अपने साथ नहीं ले जा सके थे, इस कारण उन्हें वहाँ के आदि निवासियों के साथ 'सम्बन्धम्' स्थापित करना पड़ा था। 'सम्बन्धम्' – यह विवाह की एक विचित्र प्रथा है – इसमें नम्बूदरी ब्राह्मण का नायर जाति की कन्या के साथ 'सम्बन्धम्' या contractual marriage (समझौता-विवाह) होता है। इसमें विवाह के बाद कन्या पितृ-गृह में ही रहती है और पिता के सम्पत्ति में अधिकार भी पाती है। वर ससुराल जाता है, परन्तु वहाँ का अन्न ग्रहण नहीं करता। बच्चे माँ का गोत्र तथा माँ की सम्पत्ति पाते हैं। नायर कन्याओं का विश्वास है कि ब्राह्मण के साथ 'सम्बन्धम्' विवाह होने से सभी पापों से मुक्ति मिल जायेगी और बैकुण्ठ या स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अब नायरों में विरोध होने के कारण क्रमश: यह प्रथा बन्द होने को आ गयी है। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में भी इसी तरह की बहु-पत्नी-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। इसमें वर एक ससुराल से दूसरे ससुराल में भ्रमण करता रहता था। पाण्डित्य तथा सभ्यता के बीच यह पाशविक प्रथा भी प्रचलित थी। अन्य देशों की बात ही क्या, इस पवित्र भारतवर्ष में भी ऐसा होता था। इन लोगों के लिये संयम तथा भगवान श्रीराम का दृष्टान्त भी निरर्थक था।

तो भी केरल देश के साथ संन्यासी को अत्यन्त अपनत्व का बोध हो रहा था। वे लोग भी भात खाने के अभ्यस्त हैं, परन्तु भोजन में वे लोग इमली तथा मिर्च बहुत खाते हैं और पकाने की पद्धति भी थोड़ी भिन्न है। प्रतिदिन हर सब्जी तथा दाल में नारियल पड़ना ही चाहिये। वे लोग नारियल का तेल भी घर में ही निकाल लेते हैं, जिसमें भोजन पकता है। वहाँ घी की जरूरत नहीं पड़ती, नारियल के तेल में ही पूड़ियाँ आदि भी तल ली जाती हैं। यह सहज-पाच्य होने के कारण स्वास्थ्य के लिये घी की तुलना में बेहतर है। बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, पंजाब आदि अंचलों में सरसों के तेल का उपयोग होता है। वही आसानी से मिलता है, परन्तु वह गरम होता है और उसमें पौष्टिक तत्त्व कम होता है। बंगाल में केरल के समान ही नारियल की खेती हो सकती है, परन्तु दुर्भाग्यवश बंगाल में थोड़ा मेहनत करके उसे करनेवाले कम हैं। एक बार लगाकर ऐसे ही छोड़ देते हैं, अपने आप ही जो हो जाय, सो हो जाय। अब बंगाल की सरकार प्रचार-पत्रिका के द्वारा लोगों को उत्साहित करने का थोड़ा प्रयास कर रही है, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा है।

नारियल के उपयोग

केरल के लोग नारियल का आर्थिक महत्त्व खूब समझते हैं। एक वृक्ष से १० रुपये तक की आय होती है।

(१) नारियल का तेल मिलता है। (२) भोजन पकाने के लिये प्रतिदिन नारियल मिलता है। (३) जलाने के लिये ईंधन मिलता है। (४) पत्तियों से झाड़ू बनता है। (५) पत्तियों से घर छाया जाता है। (६) चटाई बनती है। (७) टोकरी बनती है। (८) हैंडबैग बनाते हैं।

(९) घर की चहारदिवारी या मिट्टी के दीवाल के स्थान पर जैसे पूर्व बंगाल में बाँस की चटाई का उपयोग होता है, वैसे ही इसके पत्तों की चटाई बनाकर घर की बाड़ बनाते हैं।

(१०) इसका पेड़ बल्ली का काम करता है। यह बड़ा मजबूत होता है और इसमें दीमक नहीं लगते।

(११) सूखे नारियल को अन्य स्थानों के समान तोड़ नहीं देते, बल्कि आरी के द्वारा बीच से या केवल ऊपर से काट देते हैं। प्रत्येक घर में आरी होती है।

(१२) नारियल का कटा हुआ खोल कटोरे का काम देता है। उसमें खट्टी चीजें खराब नहीं होतीं या विष में परिणत नहीं होतीं, जैसा कि किसी-किसी धातु के पात्र में होता है। जरा-सा पानी डालकर धोते ही स्वच्छ हो जाता है।

(१३) तेल, घी आदि रखा जा सकता है।

(१४) केवल ऊपर का भाग काटने से बड़े कटोरे या बर्तन का काम देता है। उसमें वर्ष भर से अधिक काल तक घी आदि रखने पर भी यथावत् रहता है।

(१५) हुक्का तो बनता ही है। (१६) उसके ऊपर सुन्दर चित्र का अंकन करके पीतल या चाँदी के स्टैंड पर रख देने से मेज की शोभा बढ़ती है। (१७) फूलदानी बनाया जा सकता है। उसमें पानी भरकर रखने से उसे कोई क्षति नहीं पहुँचती। (१८) नस्यदान या तम्बाकू रखने का पात्र। (१९) चूना रखने का पात्र बन जाता है। (२०) पानदान के रूप में उपयोग होता है। (२१) थूकदान या पीकदान बनता है – उसे एक ओर से गोल काट लिया जाता है और रिंग बनवाकर उसके ऊपर रखा जाता है।

(२२) उसमें अच्छी तरह (चित्र की) खुदाई करके जापानी ब्लैक पालिश कर देने पर वह एक बेशकीमती चीज बन जाती है और यदि उसके ऊपर चाँदी की पतली परत चढ़ा दी जाय, तब तो कहना ही क्या!

(२३) नारियल के वृक्ष से रस भी निकाला जाता है। इसमें केवल एक बौर के आगे के हिस्से में थोड़ा-सा छिलकर वहाँ हण्डी बाँध देते हैं। बाकी सबमें यथावत् नारियल होते हैं। नारियल की फसल को कोई नुकसान नहीं पहुँचता। खजूर के समान काटना या छिलना नहीं पड़ता। यह स्वास्थ्यकर भी होता है। परन्तु इसका गूड़ खजूर के रस-जैसा नहीं होता। बहुत कम निकलने के कारण यह आर्थिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है।

(२४) नारियल के खोल को अन्य प्रकारों से भी कार्य में लाया जाता है। छूरी-काँटे बनते हैं – एक तरफ से घिसकर दूसरी तरफ बाँस का हैंडिल जोड़ देते हैं।

(२५) उसके छिलके या रेशे के द्वारा रस्सी, गद्दी, दरी, पाँवपोंस आदि बनता है, यह सर्वविदित है, परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि बंगाल में फेंक या जला देते हैं। ऐसा अज्ञानता तथा आलस्य के कारण होता है और यह भी निर्धनता का एक कारण है।

उपयोगी कन्द – टैपियोका

टैपियोका या फैमिन-पोटैटो नामक कन्द ने ही मलाबार को अकाल से बचा रखा है। बोलचाल की बँगला तथा सांथाली भाषा में इसे सिमुलिया आलू कहते हैं, क्योंकि इसका पौधा सेमल के वृक्ष के समान दिखता है। भेद केवल इतना ही है कि इसका पेड़ छोटा – १०-१२ हाथ तक ऊँचा होता है, पतला होता है और इसके तने पर काँटे नहीं होते। संन्यासी ने इसे आसाम (सिलहट) में देखा था और वहाँ के आश्रम में लगाया भी था। सिलहट से उसकी कटिंग बेलूड़ मठ भी भेजी गयी थी और थोड़े दिन तक वहाँ के उद्यान में उसका पौधा था।

डलहौजी की लाल मिट्टी में उसकी अच्छी पैदावार होगी – ऐसा सोचकर संन्यासी ने श्रीयुत खगेन राय के द्वारा वहाँ के तालाब के किनारे उसे लगवाया था और वह अच्छी तरह लग गया था। बाद में (१९२७ ई.) हिमाचल प्रदेश के चम्बा में रहते समय वहाँ भी इसे लेकर प्रयोग किया गया। वहाँ की भी मिट्टी अच्छी थी, परन्तु शीत-प्रधान अंचल होने के कारण वहाँ होगा या नहीं, यह देखने की इच्छा थी। ट्रावंकोर रियासत के मुख्य चिकित्सा अधिकारी डॉ. रमण तम्पी के द्वारा उसे मँगवाकर चम्बा में भी उसे लगाया था।

टैपियोका का कन्द बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है। बिहार, बंगाल, उड़ीसा में भी बाड़ के किनारे-किनारे लग सकता है। बकरियाँ इसे नहीं खातीं, इस कारण इससे बाड़ का काम भी लिया जाता है। ८-१० महीने में इसका कन्द पुष्ट हो जाता है। यह लम्बे आकार का होता है और इसके मुख पर शकर-कन्द के समान छिलका रहता है। इसे खोदने के बाद तत्काल उसके कलम की कटिंग उसी जमीन में लगा दी जाती है। पानी डालने की जरूरत नहीं पड़ती। वर्षा-काल के पूर्व या बाद में भी उसे खोदकर बाहर निकाल लेते हैं। फिर उसका छिलका उतारकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर लेते हैं। उसके एक किलो में एक मुट्ठी चावल और उसके तीन गुना पानी डालते हैं और उसमें नमक-मिर्च-इमली आदि डालकर उबाल लेते हैं। इसके बाद उसे पतले कंजी या सूप के समान पीते हैं। इसमें काफी पौष्टिक तत्त्व होते हैं। मलाबार के निर्धन लोगों का यह एक मुख्य आहार है।

उसके टुकड़ों को तलने से ठीक तले हुए नारियल के समान हो जाता है। स्वाद में मधुर लगता है। इसके आटे से विभिन्न प्रकार के सुस्वादु व्यंजन बनते हैं। आजकल बाजार में जो साबूदाना मिलता है, वह इस टैपियोका के आटे से ही कृत्रिम रूप से बनाया जाता है। पहले साबूदाना इण्डोनेशिया के बाली द्वीप से आता था। दूसरे महायुद्ध के समय वह बन्द हो गया। साबूदाने का पेड़ काफी कुछ ताड़-वृक्ष के समान होता है, परन्तु उतना मोटा नहीं होता। उसके फूल की बाली में यह साबूदाना होता है। अब कृत्रिम चावल भी बनाया जा रहा है। कोचीन में उसका कारखाना है। उसे गरम पानी में भिगाते ही चावल बन जायेगा। टैपियोका में अनेक गुण हैं। उसमें स्टार्च या माड़ होने के कारण उसमें शर्करा का अंश यथेष्ट है, इसीलिये उसका चावल अच्छा ही होगा। बंगाल के बाँकुड़ा, बीरभूम, मेदिनीपुर, बर्धमान आदि की लाल मिट्टी में इसकी अच्छी खेती होगी। सरकार द्वारा थोड़ा-सा प्रयास करने से ही लोग इसे अपना सकेंगे। इससे खाद्य-समस्या में भी कमी आयेगी। निर्धनों की क्षुधा दूर करने के लिये तो यह टैपियोका एक सदा सुलभ आहार है। यह अलग से जगह भी नहीं लेगा। जहाँ पहाड़ों के किनारे मिट्टी है, ऐसे कैलिंगपांग, कर्सियांग आदि स्थानों में खूब होगा।

❖ (क्रमशः) ❖

हीरानन्द शौकीराम अडवानी

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

श्रीरामकृष्ण का शरीर अस्वस्थ था और वह युवक अपने परमप्रिय परमहंस को प्रत्यक्ष रूप से देखने के लिये कलकत्ते से २२०० मील दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित सिन्ध प्रान्त से आया था। युवक के मन में बारम्बार यह प्रश्न उठ रहा था कि श्रीरामकृष्ण के समान निरन्तर ईश्वरीय चेतना में डूबे रहने वाले एक व्यक्ति को भला क्यों गले के कैंसर की पीड़ा या किसी अन्य प्रकार के कष्ट का भोग करना होगा? उसने इस प्रश्न पर तरह-तरह से विचार किया, परन्तु उसे इस रहस्य का कोई समाधान नहीं मिला। अत: उसने सीधे श्रीरामकृष्ण से ही पूछा – "आप बतलाइये, भक्त को कष्ट क्यों होता है?"

श्रीरामकृष्ण के चेहरे पर एक मधुर मुस्कान फैल गयी। परन्तु वे केवल अस्पष्ट आवाज में ही बोल पाते थे। बोले – "कष्ट तो देह का है।" वे शायद कुछ और भी कहना चाहते थे। थोड़ी प्रतीक्षा करने के बाद हीरानन्द ने सुना – "समझे?"

बाद में 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत'[१] ग्रन्थ के लेखक 'श्रीम' नाम से विख्यात होनेवाले महेन्द्रनाथ गुप्त ने – श्रीरामकृष्ण क्या कहना चाहते हैं – यह अनुमान लगाते हुए कहा – "लोक-शिक्षा के लिए। उदाहरण सामने है कि इतने कष्ट के भीतर भी मन का संयोग सोलहों आने ईश्वर से हो रहा है।" उस युवक ने इतिहास से इसके समानान्तर घटना का स्मरण करते हुए कहा – "हाँ, जैसे ईशू को सूली देना। परन्तु रहस्य की बात तो यह है कि इन्हें इतना कष्ट क्यों मिला?"

श्रीरामकृष्ण ने अपनी स्वयं की गहन अनुभूति का वर्णन करते हुए कहा – "इस समय केवल यही देख रहा हूँ कि अखण्ड सच्चिदानन्द ही इस त्वचा से ढका हुआ है और इसी में एक ओर यह गले का घाव पड़ा है।" पर कोई भी व्याख्या उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकी। उन्होंने पहले से सुन रखा था कि जगदम्बा ही श्रीरामकृष्ण के देह के माध्यम से लीला कर रही हैं और उन्हीं की इच्छा के अनुसार यह सारा शारीरिक कष्ट हो रहा है। पर यह व्याख्या भी इस कठोर वास्तविकता को स्वीकार करने में उनकी सहायता नहीं कर सकी थी। इस युवक की श्रीरामकृष्ण के प्रति विशेष प्रीति एवं श्रद्धा का भाव था और प्रेम के राज्य में तर्क से काम नहीं चलता। उसकी प्रेमपूर्ण चिन्ता इतनी गहरी थी कि वह इस सत्य को स्वीकार ही नहीं कर पा रहा था कि श्रीरामकृष्ण के शरीर में भी अन्य समस्त प्राणियों की भाँति रोग आदि प्राकृतिक घटनाएँ हो सकती हैं।

महेन्द्रनाथ गुप्त से परिचय कराते हुए जिस युवक के विषय में श्रीरामकृष्ण ने "बड़ा अच्छा लड़का" कहा था, वे हीरानन्द शौकीराम अडवानी थे, जो 'सिन्ध-टाइम्स' और 'सिन्ध-सुधार' नामक दो सिन्धी समाचार-पत्रों के सम्पादक थे। इनका जन्म सिन्ध प्रान्त के हैदराबाद नगर में २३ मार्च, १८६३ ई. को हुआ था। हीरानन्द एक ऐसे कुलीन परिवार में जन्मे थे, जिसके लोग पीढ़ियों से सिन्ध के शासकों के मंत्री के रूप में कार्य करते आये थे। उनके दादा दीवान शौकीराम नन्दीराम काफी काल तक तालुका रेवेन्यू आफीसर तथा मजिस्ट्रेट रहे। उनके बड़े भाई दीवान नवलराय चरित्र की दृष्टि से असाधारण सामर्थ्यवान, संयमी, भक्त तथा मौन कर्मी थे।[२] बालक हीरानन्द के जीवन-गठन में इन दोनों का – विशेषकर बड़े भाई का काफी योगदान था, जो एक निष्ठा -वान राष्ट्रवादी थे और अपनी उदारता तथा जनहितकर कार्यों के लिये सुप्रसिद्ध थे। देखने में भी हीरानन्द की उनके साथ काफी समानता थी और जैसा कि स्वाभाविक है, हीरानन्द को उनके प्रेमपूर्ण पथ-प्रदर्शन का काफी लाभ मिला।

इन दिनों सिन्धी तथा कुछ प्रमुख बंगाली लोगों, विशेषकर ब्राह्मसमाजियों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने लगे थे। सत्येन्द्रनाथ ठाकुर की सिन्ध के प्रथम भारतीय सिविलियन डिस्ट्रिक्ट जज[३] के रूप में नियुक्ति के बाद से इसे और भी बढ़ावा मिला, जो एक सक्रिय ब्राह्मसमाजी भी थे। इसके शीघ्र बाद ही दीवान नवलराय, जिन्हें बहुधा आधुनिक सिन्ध के पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जाता है, केशव चन्द्र सेन के मोहक व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर उनके ब्राह्मसमाज से जुड़ गये। १८७० ई. के सितम्बर में उन्होंने हैदराबाद (सिन्ध) में एक ब्राह्म मन्दिर की स्थापना की। उनके दूसरे भाई ताराचन्द हैदराबाद के एक ट्रेनिंग कॉलेज के अध्यक्ष बने और हीरानन्द के प्रत्यक्ष संरक्षण में बड़े होनेवाले सबसे छोटे (चौथे) भाई मोतीराम एक सफल बैरिस्टर हुए। गुरु नानक द्वारा प्रदर्शित धर्मपथ में श्रद्धा रखनेवाले एक निष्ठावान परिवार में पले हीरानन्द का प्रथम आदर्श-विषयक संघर्ष तब आरम्भ हुआ, जब उनके परिवार में पहले तो अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत हुई और उसके बाद ब्राह्म-धर्म का प्राबल्य होने लगा। यद्यपि

हीरानन्द का बचपन अपने प्रबुद्ध बड़े भाई की देखरेख में बीता, परन्तु पारिवारिक परम्परा के अनुसार उन्हें बारह वर्ष की आयु में ही विवाह करना पड़ा।

केशव चन्द्र सेन ही नवल राय के पथ-प्रदर्शक थे और हीरानन्द उन्हीं के संरक्षण में रहकर अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त अपने दादाजी के देहान्त के कुछ काल बाद ही १७ जनवरी १८७९ को कलकत्ते चले आये।

कॉलेज स्ट्रीट के मकान नं. ६ में स्थित भारत आश्रम के १० रुपये मासिक किराये के एक कमरे में रहते हुए हीरानन्द ब्राह्म प्रचारकों तथा उनके परिवारों के बीच पढ़ाई करने लगे। ब्राह्म मिशन के उस छात्रावास के व्यवस्थापक कान्ति चन्द्र ही मानो इस बालक के स्थानीय अभिभावक हुए। १८७९ ई. के दिसम्बर में हीरानन्द ने विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में द्वितीय श्रेणी हासिल की और प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया। अगले महीने उनके छोटे भाई मोतीराम भी कलकत्ते आ पहुँचे और अल्बर्ट स्कूल की चौथी कक्षा में भर्ती हुए। २७ जुलाई १८८१ ई. को उनके पिता का देहान्त हुआ। यह समाचार पाकर दोनों भाई उद्विग्न हो उठे, परन्तु पढ़ाई में बाधा न आये, इस कारण उन्हें घर लौटने से मना किया गया था। १८८१ ई. के दिसम्बर में हीरानन्द ने एफ.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की, जिसके फलस्वरूप उन्हें बीस रुपये मासिक की छात्रवृत्ति भी मिली। इसी बीच अल्बर्ट स्कूल को कॉलेज का दर्जा मिल गया और केशव बाबू के भाई कृष्ण बिहारी सेन इसके प्राचार्य हुए। इधर वह छात्रावास बन्द हो गया और १८८२ की फरवरी से लगभग एक वर्ष तक हीरानन्द पहले कोलूटोला में कृष्ण बिहारी सेन के घर में और उसके बाद केशव बाबू की बहन के यहाँ रहे। मोती केशव बाबू के बड़े भाई नवीन चन्द्र सेन के साथ रहे। दोनों बालक सेन-परिवार के साथ इतने अभिन्न रूप से घुल-मिल गये थे कि केशव तथा उनके भाई को 'काका' और उनकी बड़ी बहन को 'काकी' के रूप में सम्बोधित किया करते थे।

केशव बाबू के संरक्षण में हीरानन्द की धार्मिक प्रवृत्तियाँ गहराने लगीं, जिसके फलस्वरूप १८८१ ई. के ग्रीष्म ऋतु से वे गेरुए वस्त्र पहनने लगे और विनम्रता का व्रत लेकर नंगे-पाँव चलने लगे। केशव द्वारा प्रचारित ब्राह्म परम्परा में पोषित होते समय हीरानन्द ने उनकी New Dispensation (नव-विधान) पत्रिका में बड़ी रुचि के साथ केशव बाबू का यह उपदेश पढ़ा – "साधुसंग अर्थात् सन्तों एवं भक्तों की संगति को चित्तशुद्धि का एक मूलभूत उपाय कहा गया है और यह सत्य भी है। यह देखकर मुझे अति प्रसन्नता होती है कि जब कभी ऐसा अवसर मिलता है, तो हमारे (ब्राह्म) बन्धु ऐसे उपायों से लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। जहाँ तक हमें विदित है – महान् वैदिक सुधारक दयानन्द सरस्वती, दक्षिणेश्वर के परमहंस, डुमराँव के सिख नागाजी और गाजीपुर के पवहारी बाबा – ये चार ऐसे उल्लेखनीय सन्त हैं, जिन्हें हमारे मित्र समुचित सम्मान देते रहे हैं और जिनके सान्निध्य में जाकर उनके चरित्र तथा उदाहरण के पवित्रकारी प्रभाव को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं।"

इन चारों में से श्रीरामकृष्ण ही उन लोगों के सर्वाधिक निकट निवास करते थे और सम्भवत: वे ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने ब्राह्म नेताओं का हृदय आकृष्ट कर लिया था। ब्राह्मसमाजी उन दिनों तीन दलों में बँटे हुए थे। 'आदि-ब्राह्मसमाज' मूलभूत संस्था थी, जो धीरे-धीरे परम्परागत हिन्दू धर्म के निकट आ गयी थी और देवेन्द्रनाथ ठाकुर के परिवार तक ही सीमित होती जा रही थी। 'साधारण-ब्राह्मसमाज' – नीति, नियम, आचार-संहिता आदि के निर्धारण में व्यस्त था और कइयों को यह अति बुद्धिपरक प्रतीत होता था। केशव का 'नव-विधान' सभी धार्मिक परम्पराओं के तत्त्व ग्रहण करता हुआ भी किसी की अधीनता नहीं मानता था। लगता था कि यह केशव की मौलिक प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत धार्मिक भावों का एक गुलदस्ता है। इन तीनों दलों के बीच सम्भवत: श्रीरामकृष्ण ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें सभी प्रीति एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। केशव चन्द्र के 'Band of Hope' (आशा-दल) का एक सदस्य होने के नाते हीरानन्द New Dispensation (नवविधान) पत्रिका को पढ़ा करते थे। पहले के ही समान इस पत्रिका ने ८ जनवरी १८८२ ई. को परमहंस की बढ़ती हुई लोकप्रियता का वर्णन करते हुए लिखा – "इन मुलाकातों के दौरान परमहंसदेव द्वारा स्तोत्र तथा उपदेश सुनाये जाते हैं, प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं और बड़े उत्साहपूर्वक कीर्तन होता है। वहाँ बड़ी संख्या में विद्वान् पण्डित, शिक्षित युवक, निष्ठावान वैष्णव तथा योगी एकत्र होते हैं। इनमें से कुछ लोग मात्र जिज्ञासा मिटाने, कुछ साधुसंग करने और कुछ लोग ज्ञान अर्जित करने तथा कीर्तन में भाग लेने आते हैं। ऐसे अवसरों पर हम सर्वदा ही देखते हैं कि सजीव भक्तिपूर्ण भाव के साथ एक रोमांचकारी उत्साह का ऐसा प्रबल ज्वार उठता है, जो समस्त श्रोताओं को बहा ले जाता है। इसका प्रभाव अद्भुत होता है।

फिर 'इंडियन मिरर' पत्र के २१ अप्रैल १८८२ के अंक में यह सूचना छपी – "२२ तथा २३ अप्रैल १८८२ को १३२, वाराणसी घोष स्ट्रीट में आयोजित होनेवाले 'कलकत्ता हरिभक्ति-प्रदायिनी सभा' के चौथे वार्षिकोत्सव में परमपूज्य आर्य ऋषि रामकृष्ण परमहंस उपस्थित होंगे।" हीरानन्द का निवास इस स्थान के निकट ही था, तथापि लगता है कि इस अवसर पर वे श्रीरामकृष्ण से नहीं मिल सके थे।

तथापि १८८२ ई. के ग्रीष्मावकाश के दौरान सम्भवत: मई[४] में हीरानन्द ने श्रीरामकृष्ण का पहली बार दर्शन किया। सम्भव है कि वे केशव बाबू के भतीजे तथा अपने घनिष्ठ मित्र

नन्दलाल सेन (भूलू) के साथ दक्षिणेश्वर गये हों। इस पहली मुलाकात के दौरान क्या हुआ, इस विषय में दुर्भाग्यवश हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। हीरानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के बीच क्या बातचीत हुई या कोई घटना भी हुई हो, तो हम उस विषय में कुछ नहीं जानते। परन्तु सतह के नीचे जो शक्तियाँ क्रियाशील थीं, उनकी हम थोड़ी झलक अवश्य पा सकते हैं। यदि ये शक्तियाँ घटनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण न होतीं, तो एक अज्ञात-से परमहंस के लिये हीरानन्द जैसे प्रगतिशील युवक पर ऐसा प्रबल तथा स्थायी प्रभाव डाल पाना कदापि सम्भव न हुआ होता। श्रीरामकृष्ण मानवीय चरित्र को समझने में जैसे कुशल थे, उससे हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि इस नये आगन्तुक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं के आकलन में उन्हें क्षण मात्र भी नहीं लगा होगा। उनकी प्रथम धारणा बड़ी अनुकूल रही होगी, जैसा कि बाद में उनके मुख से सुना गया – "कीर्तन सुनते-सुनते राखाल को मैंने देखा था, वह व्रजमण्डल के भीतर था। नरेन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। और हीरानन्द। उसका कैसा बालकों का-सा भाव है! उसका भाव कैसा मधुर है! उसे भी देखने को जी चाहता है।"[५] श्रीरामकृष्ण शीघ्र ही हीरानन्द के प्रति बड़ा अपनत्व महसूस करने लगे। वस्तुतः एक बार उन्होंने हीरानन्द से कहा भी था – "तुम लोग आत्मीय जान पड़ते हो। कोई दूसरे नहीं मालूम पड़ते।"[६]

पर हीरानन्द नरेन्द्र तथा बाद में संन्यासी होनेवाले अन्य शिष्यों के समान नहीं थे, क्योंकि वे पहले से ही विवाहित थे। तथापि यदि किसी का मन ईश्वर के चरणों में निबद्ध हो, तो इससे क्या फर्क पड़ता है? श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "जिन्होंने विवाह कर लिया है, उनकी अगर ईश्वर पर भक्ति हो, तो वे संसार में लिप्त नहीं होंगे। हीरानन्द ने विवाह किया है तो इससे क्या हुआ? वह संसार में अधिक लिप्त न होगा।"[७] श्रीरामकृष्ण ऐसे लोगों को विशेष रूप से प्रेम करते थे, जो अच्छे संस्कारों के साथ जन्मे थे, शुद्धात्मा तथा ईश्वर के लिये व्याकुल थे और धन, तुच्छ सुख-सुविधाओं तथा इसी तरह की अन्य चीजों की ओर ध्यान नहीं देते थे। ऐसे संकेत मिलते हैं कि हीरानन्द में तरुणाई से ही ये लक्षण प्रकट होने लगे थे। उनके पत्रकार मित्र नगेन्द्रनाथ गुप्त ने लिखा है – "हीरानन्द में उच्च बौद्धिकता तो नहीं थी, पर उनके जैसे चरित्रवान मुझे कम ही दिखाई दिये हैं। विवाहित तथा तीन बच्चों के पिता होने के बावजूद मनोभाव से वे मूलतः एक संन्यासी थे और उनका आत्म-नियंत्रण तथा संयम अद्भुत था। वे मौन प्रार्थना में घण्टों बिताया करते और बातचीत के दौरान उनकी बच्चों जैसी सरलता व्यक्त हो उठती थी।[८]

हीरानन्द की मानसिक संरचना की और भी झाँकियाँ पाने के लिये हम उनके ७ सितम्बर १८८३ के पत्र से उद्धरण दे सकते हैं – "जीवन से तथा जीवन में मुझे बहुत कम शिकायतें हैं। मेरी तो इच्छा यह है कि मैं अपनी कठिनाइयों से उस पुरुषार्थ के साथ लड़ सकूँ, जैसा मैं चाहता हूँ।"[९] १५ सितम्बर १८८३ को उन्होंने एक अन्य मित्र को लिखा – "भाग्य कभी हमारे विरुद्ध नहीं, बल्कि सर्वदा हमारे पक्ष में है, यद्यपि बीच-बीच में ऐसा प्रतीत होता है कि सारी परिस्थितियाँ पूरी तौर से हमारे विरुद्ध खड़ी हैं। ... अपने ईश्वर को पकड़े रहो, सत्य पर दृढ़ रहो, अपनी अन्तरात्मा की आवाज में विश्वास रखो, हृदय की परम व्याकुलता को बनाये रखो।[१०]

हीरानन्द के विषय में ब्राह्म नेता प्रताप मजुमदार ने लिखा – "मैं ऐसे बहुत कम युवकों के सम्पर्क में आया हूँ, जिनमें उनके जैसी सरलता, निष्ठा तथा प्रेम रहा हो। उनकी विनम्रता के पीछे नैतिक पवित्रता का एक सुदृढ़ ढाँचा विद्यमान था, जिसे उन्हें अन्तरंग रूप से जाननेवाले ही देख सके थे। उन्होंने कभी कुछ अशोभनीय या अपवित्र किया या कहा हो, ऐसा मेरी जानकारी में नहीं आया। अहंकार तथा आत्म-प्रशंसा के अभाव ने उनके सभी कार्यों में एक विशेष मोहकता ला दी थी। हमारे सभी युवकों में वे ही सर्वाधिक निरभिमानी थे।[११]

बीस वर्ष से भी कम आयु में श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट होने के बावजूद हीरानन्द उन पर मुग्ध हो गये थे। श्रीरामकृष्ण उन्हें आनन्दमय, आकर्षक तथा प्रेमी व्यक्ति लगे। अन्य ब्राह्म-समाजियों के समान ही, परन्तु उन सभी से गहनतर अन्तर्दृष्टि के साथ उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण का पूरा व्यक्तित्व ही दिन-रात एक सुदृढ़ भाव तथा श्रद्धा की ज्योति से आलोकित रहा करता है; और विशेषकर सत्संग के दौरान जब वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का वर्णन करते समय या फिर उनके बारे में कोई महत्त्वपूर्ण टिप्पणी सुनकर वे दिन में अनेकों बार समाधि की परम आनन्दमय अवस्था में डूब जाते हैं और फिर बाह्य चेतना के जगत् में लौट आते हैं। प्रारम्भ में भले ही श्रीरामकृष्ण का उन पर प्रभाव हल्का रहा हो, पर अन्ततः वह चिरस्थायी हुआ था और इसके फलस्वरूप ये सरल-हृदय ईश्वर-तनय उनकी प्रीति एवं श्रद्धा के भाजन हुए थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव किया और यह दिन-पर-दिन बढ़ता गया। उनके जीवनीकार ने लिखा है – "१८८३ ई. में हीरानन्द ने लगभग हर रविवार"[१२] दक्षिणेश्वर में बिताया। हीरानन्द के एक मित्र भाई बलदेव नारायण लिखते हैं – "१८८१ में मैंने परमहंसदेव के पास जाना आरम्भ किया। ... उसके बाद हीरानन्द तथा मैं प्रायः ही उनका दर्शन करने जाया करते थे और कभी-कभी दक्षिणेश्वर में ही रात बिता देते थे। हम लोग उनका शरीर दबाते, उन्हें हवा करते और गंगा के किनारे ले जाकर उनके शरीर में तेल लगाकर स्नान कराते। हीरानन्द उन्हें बहुत प्रिय था।"[१३]

१८८३ ई. की जुलाई से कई युवक, जिनमें से अधिकांश केशव के 'आशा-दल' के सदस्य थे, प्रतिदिन

आपस में मिलकर अध्ययन, उच्च चिन्तन, धर्मचर्चा और कठोर नियमानुसार जीवन-यापन करने लगे। शीघ्र ही यह सात लोगों की टोली बन गयी, जिनमें एक मुसलमान भी था। हीरानन्द प्रारम्भ से ही इसके प्रेरक थे। केशव इन लोगों की प्राण-शक्ति के जैसे थे और ये लोग कई तरह से उन्हीं के गुणों का अनुकरण करने की चेष्टा करते। ये लोग प्राय: ही केशव, श्रीरामकृष्ण या किसी अन्य धर्माचार्य से मिलने जाते।[१४] परन्तु हीरानन्द मुख्यत: और प्राय: दक्षिणेश्वर ही जाते। उनके एक घनिष्ठ मित्र नालू (प्रमथ लाल सेन) ने लिखा है –

"हममें से अधिकांश के समान ही हीरानन्द को भी केशव चन्द्र सेन से ही दक्षिणेश्वर के परमहंस की जानकारी मिली। शायद मेरा यह कथन गलत नहीं होगा कि परमहंसदेव से परिचित होनेवाली हमारी टोली में से हीरानन्द के प्रति ही उनका स्नेह गहनतम था। हीरानन्द ने परमहंसदेव के गूढ़ उपदेशों को सुनते, उनके साथ तर्क करते, हास-परिहास करते और यथासम्भव व्यक्तिगत रूप से उनकी सेवा की चेष्टा करते हुए अनेक दिन तथा अनेक रातें बिता दी थीं।[१५]

परन्तु बी.ए. की पढ़ाई पूरी होते ही पारिवारिक जिम्मेदारियों ने हीरानन्द को सिन्ध में लौट जाने को बाध्य कर दिया था। वैसे उनके प्रिय केशव की अन्तिम बीमारी के कारण इसमें थोड़ा दुखद विलम्ब भी हुआ था। वे तथा उनके भाई ताराचन्द अन्त तक केशव की शैया के पास रहे; नवल राय भी इतनी दूर से उन्हें देखने आये और यथासम्भव ठहरे रहे।

१ फरवरी १८८४ को अपने नगर में वापस पहुँचते ही हीरानन्द को उत्साहजनक कार्यों के प्रस्ताव मिले, परन्तु उन्होंने शीघ्र ही दो समाचार-पत्रों – सिन्धी भाषा के 'सिन्ध-सुधार' तथा अंग्रेजी के 'सिन्धु-टाइम्स' के सम्पादन का कार्य चुन लिया। ये दोनों पत्र कराची के प्रगतिशील 'सिन्ध-सभा' द्वारा प्रायोजित थे। इन दो पत्रों के सम्पादन के अतिरिक्त उन्हें अपनी पारिवारिक उत्तरदायित्व भी सँभालना पड़ता था, परन्तु यह सब भी उनके लिये मानो यथेष्ट न था। उन्होंने शीघ्र ही अपने भक्तिप्रवण मित्रों का एक दल गठित किया, ताकि एक साथ मिलकर प्रार्थना, पूजा, शास्त्रचर्चा तथा नैतिक उन्नयन किया जा सके। यह टोली प्राय: प्रतिदिन मिला करती। अगले वर्ष से अभावग्रस्त लोगों की प्रेमपूर्ण सेवा के निमित्त, उन्होंने स्वयं एक धर्मार्थ चिकित्सक के सहकारी, कम्पाउंडर तथा नर्स के रूप में अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य आरम्भ किया।

पर उनके कलकत्ते के मित्रों के नाम लिखे पत्रों से यह स्पष्ट है कि हीरानन्द का मन अब भी श्रीरामकृष्ण के लिये आकुल था। १८८५ ई. के क्रिसमस के पूर्व उन्होंने एक ऐसे ही पत्र में श्रीरामकृष्ण की उक्तियों की कबीर की साखियों से तुलना की और अन्त में लिखा – "वस्तुत: हम लोग अपने नहीं, अपितु दूसरों के हितार्थ जीते हैं। इसी में सच्ची मुक्ति निहित है।"[१६]

इसके कुछ काल बाद ही श्रीरामकृष्ण की लम्बी बीमारी का शोकप्रद समाचार आ पहुँचा। उन्होंने १४ फरवरी १८८६ को कलकत्ते के अपने एक मित्र को लिखा – "परमहंस रामकृष्ण के गम्भीर रोग तथा उनके सम्भावित देहावसान के समाचार ने मुझे बहुत विचलित कर दिया है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे बच जायँ। मेरी प्रार्थना है कि युवकों के लिये और भी सत्कार्य करने हेतु जीवित रहें। मेरी प्रार्थना है कि वह अप्रतिम तथा अद्भुत ज्योति इतनी जल्दी बुझ न जाय। ... यदि सम्भव हुआ तो उन पवित्र चरणों को चूमने की आशा में मैं दौड़कर कलकत्ते जाऊँगा, परन्तु मैं यहाँ मानो बँधा हुआ हूँ।"[१७]

हीरानन्द के अगले कुछ सप्ताह के पत्रों में उनकी बढ़ती हुई चिन्ता व्यक्त होती रही और आखिरकार वे कराची से लम्बी यात्रा करके आ पहुँचे। 'वचनामृत'[१८] में लिखा है – अपनी अन्तिम भेंट के समय हीरानन्द श्रीरामकृष्ण के चरण दबाते हुए मधुर शब्दों में उन्हें उनके रोग के बारे में दिलासा दे रहे हैं। श्रीरामकृष्ण ने उनसे कुछ दिन और ठहर जाने का अनुरोध किया, परन्तु उन्होंने खेदपूर्वक बताया कि उन्हें दो दिन बाद सिन्ध लौटना है और अगली सुबह वे उनसे विदा लेने आयेंगे। उनके जाने के बाद श्रीरामकृष्ण ने 'म' को बताया – "मेरी बड़ी इच्छा है कि मुझे भी उस देश (सिन्ध) में कोई ले जाय।"

उनके कराची लौटने के कुछ महीनों बाद ही श्रीरामकृष्ण के देहत्याग का दुखद समाचार आ पहुँचा। इसके बाद हीरानन्द स्वयं भी सात वर्ष से भी कम – १८९३ ई. की जुलाई तक ही जीवित रहे; पर वे अपने पीछे एक महान् विरासत छोड़ गये। उनकी बहु-आकांक्षित चिकित्सकीय सेवा-कार्य का क्रमश: विस्तार होता रहा। अपने जनहित के कार्यों में व्यस्तता के कारण वे सदैव निर्धन बने रहे; अत: औपचारिक चिकित्सकीय डिग्री का खर्च नहीं उठा सकते थे। तथापि वे अपने खाली समय में अध्ययन करते रहे; और 'सम्मान' के प्रति अरुचि होने के बावजूद धीरे-धीरे इस क्षेत्र में अत्यन्त सम्मानित हो गये। १८९२ ई. में हैदराबाद (सिन्ध) में हैजे की भीषण महामारी फैली। उस समय उन्होंने सहकारी, नर्स तथा डॉक्टर के रूप में तब तक कार्य किया, जब तक कि उनकी शक्ति जवाब न दे गयी। उन्होंने १८८७ ई. में ही सम्पादक का कार्य छोड़ दिया था, परन्तु उनका हृदय सभी पीड़ाग्रस्त लोगों की तरफ आकृष्ट हुआ करता था; अत: वे शीघ्र ही नारियों की शिक्षा के कार्य में लग गये थे – वे एक नवनिर्मित अस्पताल में कक्षाएँ लेते और इस कार्य में अपने भ्राता नवलराय तथा अन्य ब्राह्मसमाजियों की काफी सहायता करते। शीघ्र ही वे बच्चों के एक स्कूल के अध्यक्ष हो गये और उनके नेतृत्व में उसकी तेजी से उन्नति हुई। यद्यपि राजनीति में उनकी कोई विशेष रुचि न थी, तथापि अपने उन्नत चरित्र तथा व्यक्तिगत सम्मोहन के फलस्वरूप वे

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अनमोल रत्न

स्वामी सत्यरूपानन्द

"वेद 'धर्म', 'अर्थ' और 'काम' तीनों की प्रंशसा करते हैं। किन्तु इन तीनों में से किसकी प्राप्ति सर्वश्रेष्ठ है" – धर्मराज युधिष्ठिर ने धर्मज्ञ पितामह भीष्म से पूछा।

तत्त्वज्ञानी भीष्म ने युधिष्ठिर की जिज्ञासा शान्त करने के लिये एक कथा कही –

निर्धनता के दारुण दुख से दुखित एक निरीह ब्राह्मण रहा करता था। दारिद्र्य की पीड़ा से छूटने हूते उसने देवताओं की उपासना प्रारम्भ की। उसने सोचा, यदि देवता प्रसन्न होकर उसे धन दे दें, तो उसके दुखों का नाश हो जाय। धन की प्राप्ति ही उसकी उपासना का उद्देश्य था। किन्तु उसकी उपासना सफल न हुई। साधना सिद्ध न हुई। देवता प्रसन्न न हो सके। उसे देवताओं से धन न मिल सका।

दुखित ब्राह्मण चिन्तामग्न था कि अब किस देवता की उपासना करें, जिससे उसे वांछित धन प्राप्त हो सके। तभी उसने देखा कि एक तेजस्वी पुरुष उसके समीप ही खड़ा है। उसे देखकर ब्राह्मण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सोचा, यदि मैं किसी प्रकार इस दिव्य पुरुष की कृपा प्राप्त कर सकूँ तो मुझे अवश्य ही धन मिल सकेगा।

यह दिव्य पुरुष थे देव-अनुचर मेघ कुण्डधार। ब्राह्मण ने भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। ब्राह्मण की उपासना से कुण्डधार प्रसन्न हो गये। उपासना समाप्त होते-होते संध्या बीत चली और रात्रि का आगमन हो गया। उपासना से क्लान्त ब्राह्मण वहीं गहरी नींद में सो गया।

उसने स्वप्न में देखा कि यक्षराज मणिभद्र वहाँ विराज रहे हैं तथा देवताओं के सम्मुख अनेक प्रकार के याचकों को उपस्थित कर रहे हैं। ब्राह्मण ने देखा – देवगण उन सभी याचकों को उनके अपने-अपने शुभ कर्मों के अनुसार राज्य धन-सम्पत्ति आदि दे रहे हैं। किन्तु साथ ही विस्फारित नेत्रों से उसने यह भी देखा कि जिन याचकों के शुभ कर्म समाप्त हो गये हैं, उनसे देवगण वे सभी वस्तुयें छीनते भी जा रहे हैं।

तभी उसने देखा – उसके आराध्य कुण्डधार ने देवताओं के सम्मुख भूमि पर मस्तक टेक दिया है। उसे देवताओं को इस प्रकार प्रणाम करते देख यक्षराज मणिभद्र ने उससे पूछा, "कुण्डधार, तुम क्या चाहते हो?"

कुण्डधार ने विनम्र हो कहा, "महाराज! यह ब्राह्मण मेरा भक्त है। यदि देवतागण मुझ पर प्रसन्न हैं, तो बस मैं यही चाहता हूँ कि इस पर ऐसा अनुग्रह करें कि इसे भविष्य में सुख मिल सके।"

देवताओं की अनुमति से मणिभद्र ने कुण्डधार से कहा, "कुण्डधार, उठो! सुखी रहो। तुम्हारा यह भक्त जितना धन चाहता है, उतना मैं उसे दे रहा हूँ।"

किन्तु कुण्डधार ने सोचा – मनुष्य का जीवन तो चंचल और अस्थिर है। यदि मेरे भक्त ब्राह्मण को प्रचुर धन या यह रत्नगर्भा पृथ्वी भी मिल जाय, तो भी उससे उसके जीवन का कल्याण नहीं हो सकता, उसके दुखों का अन्त नहीं हो सकता।

अस्तु उसने पुनः निवेदन किया, "देव, मैं अपने भक्त के

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सहज भाव से कई 'सुधार' आन्दोलनों से जुड़ गये और इसका उल्लेखनीय परिणाम हुआ। अपनी गतिविधियों के इस भँवर के बीच भी वे अपने परिवार के लिये एक अच्छे पति तथा पिता की भूमिका निभाने के लिये समय निकाल लेते थे। वे आजीवन श्रीरामकृष्ण के व्यक्तिगत सान्निध्य तथा उपदेशों का स्मरण करते रहे; और इस प्रकार हीरानन्द का जीवन श्रीरामकृष्ण के अमिट प्रभाव का एक ज्वलन्त उदाहरण बन गया।

सन्दर्भ-सूची –

१. श्रीम, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ११७०-१। वे २२ अप्रैल १८८६ ई. को आये थे।
२. Nagendra Nath Gupta, 'Sind in the Eighties', *The Modern Review* (Calcutta), Aug. 1926, p. 155.   ३. Loc. cit.
४. Dayaram Gidumal : *The History of a Humble Soul – Life and Letters of Hiranand Shaukiram* (Sind Gazette and Commercial Press, Karachi, 1903), p. 51
५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, सं. १९९९, पृ. ... (९ दिस.८३)
६. वही, भाग २, पृ. ११७०;   ७. वही, भाग १, पृ. (२ अक्तू.८४)
८. Gupta, *op. cit.*, p. 156   ९. Gidumal, *op. cit.*, p. 84;
१०. *Ibid.*, p. *85*   ११. *Ibid.*, pp. 1-2
१२. *Ibid.*, p. 52   १३. *Ibid.*, pp. 324-5
१४. *Sadhu Hiranand,* Compiled by C T. Valecha (1963), p. 26 Cf. also, Gidumal, op. cit., pp. *87-91.*
१५. '*Phoenix* of 5th May, 184' quoted by Gidumal, op. cit., p. 52;   १६. Gidumal, op. cit., p. 192.
१७. *Ibid.*, pp. 194 -5   १८. पृ. ११७१-३ (२३ अप्रैल १८८६)

लिये धन की याचना नहीं करता। उस पर किसी अन्य प्रकार से अनुकम्पा करें। भगवन्! मेरी तो यही प्रार्थना है कि वह धर्मात्मा बने, उसकी बुद्धि सदैव धर्म में लगी रहे। उसके सारे जीवन में धर्म की ही प्रधानता हो। इसी को मैं अपने भक्त पर महान् अनुग्रह समझता हूँ।''

मणिभद्र ने कुण्डधार को पुन: प्रेरित किया, ''कुण्डधार, धर्म का फल भी तो नाना प्रकार की सुख-सुविधा, धन-राज्य आदि का भोग होता है। अत: यह ब्राह्मण शारीरिक कष्टों से रहित होकर केवल उन फलों का ही उपभोग करे।''

कुण्डधार ने पुन: आग्रह किया, ''यक्षराज, जिससे इस ब्राह्मण का धर्म बढ़े, यही वर दीजिये।'' मेघ कुण्डधार के आग्रह से सभी देवगण प्रसन्न और सन्तुष्ट हुये।

मणिभद्र ने कहा, ''कुण्डधार! सभी देवता तुम पर तथा तुम्हारे भक्त पर प्रसन्न हैं। उन सभी का यह आशीर्वाद है कि यह धर्मात्मा होगा तथा इसकी बुद्धि सदैव धर्म में ही लगी रहेगी।''

मणिभद्र द्वारा ऐसा आश्वासन पाकर कुण्डधार बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु इधर ब्राह्मण मन-ही-मन बड़ा दुखित और उदास हो गया। वह सोचने लगा कि जब मेरे उपास्य कुण्डधार ही मेरी पूजा-अर्चा का अर्थ नहीं समझ पा रहे हैं, तब भला दूसरा कोई मेरी साधना का तात्पर्य क्या समझेगा। इससे तो यही अच्छा है कि मैं वन में चला जाऊँ और धर्म की साधना में जीवन व्यतीत करूँ। ऐसा सोचकर वह वन को चला गया और वहाँ उसने उग्र तपस्या प्रारम्भ कर दी। उसकी तपश्चर्या फलित हुई और उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई। इस सिद्धि से उत्साहित होकर उसने और भी कठिन तप प्रारम्भ कर दिया। इस बार भगवत्कृपा से उसे संकल्प-सिद्धि प्राप्त हो गई। उसने अनुभव किया कि उसके मन में उठने वाले सभी संकल्प, फिर वे कितने भी ऊँचे क्यों न हों, सिद्ध हो जाते हैं और अब तो वह संकल्प मात्र से ही किसी भी व्यक्ति को प्रचुर धन अथवा राज्य तक दे सकता है।

ब्राह्मण इन्हीं विचारों में खोया था कि वहाँ देव-अनुचर मेघ कुण्डधार प्रकट हुये। उन्हें देखकर ब्राह्मण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणाम किया। विधिपूर्वक उनकी पूजा की। उसके सत्कार से कुण्डधार प्रसन्न हो गये।

कुण्डधार ने कहा, ''तपस्वी, तुमने धन की इच्छा से देवों की उपासना की थी। धन की ही इच्छा से तुमने मेरा भी पूजन आदि किया था। किन्तु जब मैंने देवताओं से तुम्हें धन न देकर किसी अन्य प्रकार से अनुग्रह करने को कहा था, तब तुम खिन्न और दुखी हो गये थे। दुखी होकर ही तुम वन में तप करने आये। प्रभु की कृपा से तुम्हारी तपस्या फलीभूत हुई है। तुम्हें दिव्य दृष्टि एवं संकल्प-सिद्धि प्राप्त हो गई है। तुम स्वयं अपनी आँखों से देख लो कि राजाओं और धन-लोलुपों की क्या गति होती है।''

कुण्डधार की आज्ञा से ब्राह्मण ने ध्यान लगाया तथा अपनी दिव्य दृष्टि से उसने देखा – सहस्रों राजे-महाराजे नरक में डूबे हुये हैं तथा नाना प्रकार की यंत्रणायें भोग रहे हैं। यह दृश्य देखकर ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो उठा। उसने देखा – उन सभी मनुष्यों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, निद्रा आदि शत्रुओं ने घेर रखा है। ये रिपु उन्हें भयाकुल और सन्तप्त कर रहे हैं।

कुण्डधार ने कहा, ''तपस्वी! एक बार पुन: उन लोगों की दुर्दशा देखो जो धन-राज्य आदि के लोलुप हैं। अब तुम्हीं सोचो – यदि मैं तुम्हें धन देता भी तो धन पाकर अन्तत: तुम्हें दुख ही भोगना पड़ता। ऐसी दशा में मैं भला तुम्हारा क्या उपकार कर सकता था? जो धन और भोगों में आसक्त रहते हैं, उनके लिये स्वर्ग का द्वार बन्द रहता है।

''देवताओं की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति इन रिपुओं से सुरक्षित रहकर धर्मानुष्ठान नहीं कर सकता। तुम सौभाग्य-शाली हो। तुम्हें अपनी तपस्या के बल से इतनी शक्ति प्राप्त हो गई है कि अब तुम स्वयं दूसरों को धन तथा राज्य तक देने में समर्थ हो। अत: तुम्हें अब इन क्षुद्र वस्तुओं की क्या आवश्यकता है?''

दिव्य दृष्टि द्वारा भोग तथा भोगियों की दुर्दशा देखकर एवं कुण्डधार का उद्बोधन सुनकर ब्राह्मण का मोह नष्ट हो गया और उसके ज्ञानचक्षु खुल गये। उसने कुण्डधार को साष्टांग प्रणाम किया और कहा, ''प्रभु! आपने मुझ पर असीम अनुग्रह किया। आपकी अहैतुकी कृपा को न समझ सकने के कारण तथा काम और लोभ के वशीभूत होकर मैंने आप में दोष देखा और आपका उचित सम्मान न कर सका। मेरे इस अपराध के लिये मुझे क्षमा करें।''

कुण्डधार ने स्नेहपूर्वक ब्राह्मण को उठाकर हृदय से लगा लिया तथा उसे आशीर्वाद देकर वे अन्तर्धान हो गये। धर्म की महत्ता को समझकर ब्राह्मण धर्मानुष्ठान में मन-प्राणपूर्वक लग गया। समयानुसार उसे परम कल्याण की प्राप्ति हुई।

इसीलिये तो भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था – ''राजन्! धन में तो सुख का लेश मात्र ही रहता है। परम सुख तो धर्म में ही है।''*

आज के इस भौतिकवादी, धनलोलुप युग में महाभारत की यह कथा चट्टानों से भरे समुद्र में दीपस्तम्भ की भाँति हमारा मार्गदर्शन कर रही है। जब तक धर्म धन के आधीन रहेगा, तब

(शेष अगले पृष्ठ पर)

गीता का अध्ययन क्यों?

डॉ. प्रभुनारायण मिश्र

गीता उपन्यास या कथा की तरह कोई मनोरंजक पुस्तक तो है नहीं कि व्यक्ति मात्र मन-बहलाव के लिए इसे पढ़े, यह जीवन का गम्भीर दर्शन-शास्त्र है और इसे गम्भीरता से ही पढ़ना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति श्रद्धाभाव से इसे नहीं भी पढ़ेगा, पर हिन्दुओं का एक छोटा-सा समुदाय इस ग्रन्थ को अवश्य श्रद्धाभाव से पढ़ता है। शेष लोग गीता के अध्ययन का व्यावहारिक लाभ चाहेंगे। यह बात अलग है कि व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से पढ़ते-पढ़ते श्रद्धाभाव भी जाग्रत हो जाए।

यदि आप कभी अनिर्णय की स्थिति से नहीं गुजरे हैं, निराशा एवं कुण्ठा के शिकार नहीं हुए हैं, तो आपको गीता पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि आप कर्तव्य-पालन करने में हिचकते नहीं, छोटों का मार्ग-दर्शन करने तथा बड़ों की आज्ञा का पालन करने में स्वयं को असमर्थ नहीं पाते, तो आपको गीता का अध्ययन करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि आप ईर्ष्या, घृणा, क्रोध आदि ऋणात्मक मनोभावों के शिकार नहीं होते, तो आपको गीता पढ़ने की आवश्यकता नहीं। यदि सफलता आपके हाथ से सरकती नहीं, आप सफल और समृद्धिशाली होने के साथ-साथ प्रसन्न भी हैं, तो आपको गीता पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

अपना तटस्थ मूल्यांकन करके देखिए, यदि आप कभी कर्तव्य-पालन से विचलित हुए हैं, यदि आप कुण्ठा तथा निराशा के शिकार हुए हैं, तो गीता आपकी सहायता अचूक रूप से कर सकती है। यदि ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, आदि ऋणात्मक मनोभावों ने आपको कभी हराया है और आप इन पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, तो निश्चित रूप से आपको गीता का अध्ययन करना चाहिए। यदि आप सफल हो गए हैं या सफल तथा समृद्धशाली होकर भी प्रसन्न नहीं हैं, तो गीता आपका मार्ग-दर्शन कर सकती है। मनुष्य में पूर्वोक्त में से कोई-न-कोई अपूर्णता रहती ही है, अत: गीता उसके लिए शाश्वत रूप से उपयोगी ग्रन्थ है। यह शाश्वत एवं परम मनोविज्ञान तथा आत्मविकास की पूर्ण निर्देशिका है। यह देश, काल एवं परिस्थितियों से निरपेक्ष एक जीवन-दर्शन है। गीता का दर्शन जहाँ अत्यन्त गहरा है, इसमें बताए गए आत्मोन्नति के उपाय उतने ही सरल, सर्वजन-सुलभ तथा प्रभावशाली हैं। गीता पाँच हजार से अधिक वर्षों से लोगों का मार्ग-दर्शन कर रही है और आगे भी करती रहेगी।

'गीता' का शाब्दिक अर्थ है गाया हुआ। गीता का पूर्ण नाम 'भगवद्-गीता' है, जिसे सम्मान के साथ 'श्रीमद्-भगवद्-गीता' कहते हैं, जिसका अर्थ है भगवान द्वारा गाया गया गीत या दिया गया उपदेश; श्रीमद्-भगवद्-गीता अपने आप में एक स्वतंत्र ग्रन्थ न होते हुए भी महान् और विलक्षण ग्रन्थ है। वस्तुत: श्रीमद्-भगवद्-गीता महाभारत का एक अंश है। महाभारत अठारह पर्वों (भागों) में विभाजित है। हर पर्व में कई-कई अध्याय हैं। महाभारत का एक पर्व है – भीष्मपर्व। भीष्मपर्व के पच्चीसवें अध्याय से लेकर बयालीसवें अध्याय तक वस्तुत: श्रीमद-भगवद्-गीता का क्रमश: पहले अध्याय से लेकर अठारहवाँ अध्याय है। महाभारत में है भीष्मपर्व और भीष्मपर्व में रखी हुई है भगवद्-गीता। ऐसा लगता है वेदव्यास गीतारत्न को महाभारत के अन्तर्गत बहुत सहेज कर रखना चाहते थे। सन्दूक के अन्दर छोटा सन्दूक और छोटे सन्दूक में रखा गया मूल्यवान रत्न। उस मूल्यवान रत्न को ही श्रीमद्-भगवद्-गीता कहते हैं।

महाभारत के विशाल रणांगण में पाण्डव और कौरव अपनी विशाल सेनाओं के साथ डट गए हैं। श्रीकृष्ण, अर्जुन का रथ चला रहे हैं। युद्ध का शंखनाद हो चुका है। पाण्डवों के पक्ष के महान् योद्धा अर्जुन दोनों सेनाओं को देखना चाहते हैं, अत: वे सारथी की भूमिका निभा रहे श्रीकृष्ण से अपना रथ दोनों सेनाओं के मध्य ले चलने के लिये कहते हैं –

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मे अच्युत ।।

श्रीकृष्ण अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के मध्य में लाकर खड़ा कर देते हैं। अर्जुन से युद्ध करने के लिए उनके सारे सगे-सम्बन्धी ही खड़े हैं – ताऊ, मामा, चाचा, भानजे, भतीजे, साले, बहनोई आदि। अर्जुन को अपने सगे-सम्बन्धियों से ही लड़ना है। युद्ध का परिणाम वैसे भी अनिश्चित होता है। अर्जुन संशय में हैं कि वे विजयी होंगे या पराजित –

यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयु: ।।

वे अनिश्चय, मोह तथा किंचित भय से भी ग्रस्त हैं। वे मैदान छोड़कर भागना चाहते हैं। इसके पक्ष में बड़े-बड़े तर्क

पिछले पृष्ठ का शेषांश

तक हमें कभी सुख और शान्ति नहीं मिल सकता। जीवन की परिचालना तथा प्रेरणा के मूल में जब तक धन की लिप्सा रहेगी, तब तक हमारा जीवन अशान्त और दुखी रहेगा। इस दुख के छूटने का एक ही उपाय है, और वह है जीवन की प्रेरणा के मूल में धर्म की स्थापना। ❑ ❑ ❑

* महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय २७१, ५६

खड़े कर देते हैं। वे अपने तर्कों से पूर्ण सन्तुष्ट भी नहीं हैं। अन्यथा कब के भाग गये होते। वे कृष्ण की सहमति चाहते हैं। कहते हैं – आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ –

शिष्यः ते अहम् शाधि माम् त्वाम् प्रपन्नम् ।।

श्रीकृष्ण जैसे गुरु अपने शिष्य को मैदान छोड़कर भागने का उपदेश भला कैसे दे सकते हैं। भागने से तो मृत्यु अच्छी है। पलायन करने से प्रतिष्ठा नष्ट होती है और युद्ध करने से विजय या वीर गति प्राप्त होती है। प्रतिष्ठा नष्ट करने की तुलना में दोनों ही श्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्ण गीता के उपदेश के द्वारा अर्जुन को पलायन करने से रोकते हैं। अर्जुन कर्तव्य मार्ग पर वापस आते हैं; युद्ध करते हैं और विजयी होते हैं। भागने वाले के लिए सफलता का द्वार सदा के लिए बन्द हो जाता है; प्रयत्न करने वाले के लिए ही विजय और सफल होने की सम्भावना रहती है। हम भी अनिर्णय-ग्रस्त होते हैं, हम भी कर्तव्य से पलायन करने के लिए तर्क ढूँढ़ते रहते हैं, हम सब जीवन में कभी-न-कभी शोक और मोह ग्रस्त होते हैं। अत: गीता हम सबके लिए – मनुष्य मात्र के लिए है।

श्रीकृष्ण अर्जुन का रथ चला रहे हैं। हम सब संसार-युद्ध के अर्जुन हैं। हमारा भी रथ श्रीकृष्ण चला रहे हैं। वे सनातन सारथी हैं। वे हम सभी का रथ चला रहे हैं। अज्ञान और अहंकार के कारण हम उस सनातन सारथी को देख नहीं पाते। श्रीमद्-भगवद्-गीता का अध्ययन हमारी आँखों पर से अज्ञान का पर्दा हटाकर हमें भय तथा अहंकार से मुक्त कर देता है। तब हम अपने को भी देख पाते हैं और अपने सनातन सारथी को भी। यदि हम भयमुक्त हो गए, तो हमारे लिए कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता।

महाभारत का युद्ध आन्तरिक भी है और बाह्य भी। आन्तरिक युद्ध में विजयी होना बाह्य युद्ध में विजयी होने से कहीं अधिक कठिन है। मन के भीतर चित्त-वृत्तियों का संग्राम चलता रहता है। यही आन्तरिक महाभारत है। जो आन्तरिक महाभारत में विजयी हो गया, उसके लिए बाह्य महाभारत में विजयी होना कठिन नहीं रह जाता। गीता हमें आन्तरिक युद्ध में विजयी होने के लिए तैयार करती है। यह हमें आत्म-अनुशासन और आत्मोन्नति का सोपानबद्ध उपाय बताती है। श्रीमद्-भगवद्-गीता के श्लोकों के कई अर्थ और उनके आशय के कई तल हैं। अपने अनुभव और परिपक्वता के अनुसार ये अनेक अर्थ तथा तल हमारे समक्ष उद्घाटित होते रहते हैं। इस प्रकार गीता सबके लिए शाश्वत मार्ग-दर्शक बनी रहती है।

अत: यदि हम शोक, भय एवं मोह से ग्रस्त हैं, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं, सब कुछ रहते हुए शान्त तथा प्रसन्न नहीं है, सफलता से वंचित एवं अतृप्त हैं – तो हमें गीता का अध्ययन करना चाहिये। गीता परम मनोविज्ञान है, शाश्वत मनोविज्ञान है तथा आत्मोन्नति के लिए मार्ग-दर्शन प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है। वेदव्यास कहते हैं – गीता का ही अच्छी तरह अध्ययन कर लेना पर्याप्त है। गीता का अच्छी तरह अध्ययन कर लेने पर अन्य शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं रहता –

गीता सुगीता कर्तव्या किम् अन्यैः शास्त्र-संग्रहैः ।।

❑❑❑

मानव-धर्म की श्रेष्ठता

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

सभी सुखी सारोग्य रहें, यह जिसका मर्म ।
वही श्रेष्ठ है सदा सर्वदा 'मानव-धर्म' ।।

जहाँ नहीं मत-मजहब की मोटी दीवार,
जहाँ न 'गुरुडम' का हो पाता दुखद प्रचार ।
जहाँ स्नेह सौहार्द फूलते-फलते खूब,
जहाँ मनुजता की होती है जय-जयकार ।
जहाँ सभी कर्तव्य समझ कर करते कर्म,
वही श्रेष्ठ है सदा-सर्वदा मानव-धर्म ।।

जो कि सिखाता विश्व प्रेम का पावन पाठ,
और खोलता सबके अन्तर की विषगाँठ ।
जो जीवन का त्राण, धर्म का सच्चा प्राण,
जो कि सजाता शान्ति और सुख के सब ठाट
जो कि सुसंयत स्वस्थ, न जिसका मस्तक गर्म ।
वही श्रेष्ठ है सदा-सर्वदा मानव-धर्म ।।

भले मुखरते हों मन्दिर में वेद-पुरान,
या कि मस्जिदों में अजान हो, पाठ-कुरान ।
पढ़े बाइबिल कोई, किसको कैसा रोष,
द्वेष-क्लेश का नहीं कि जिसमें रंच विधान ।
ऐसा जो समुदार मनुज का पक्का वर्म ।
वही श्रेष्ठ है सदा-सर्वदा मानव-धर्म ।।

दया-सत्य-सद्भाव क्षमादिक जिसके मंत्र
'कर्मयोग' ही है जिसका सुन्दरतम यंत्र ।
देश-जाति की सीमा जिसमें जाती टूट,
सब हैं सबके मित्र सर्वदा सभी स्वतंत्र ।
जिसमें स्नेहिल छाँव न रंचक ईर्ष्या-धर्म
वहीं श्रेष्ठ है सदा-सर्वदा मानव-धर्म ।।

किशनगढ़ का राहत-कार्य

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि भारतवासी स्वयं ही अपने देशवासियों पर आनेवाली आपदाओं के समय संगठित होकर राहत पहुँचाना सीखें। स्वामीजी के जीवन-काल के दौरान रामकृष्ण मिशन द्वारा कुछ संगठित राहत-कार्य सम्पन्न हुए। उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो अकाल-राहत-कार्यों में से एक तो सारगाछी (मुर्शिदाबाद) में उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द द्वारा सम्पन्न किया गया था और दूसरा उनके दो शिष्यों द्वारा राजस्थान के किशनगढ़ में भी चलाया गया था। यह भयानक अकाल संवत् २०५६ में आने के कारण छपनिया-अकाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस विषय में विविध स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं को यहाँ कालानुक्रम से प्रस्तुत किया जाता है। इस महान् कार्य का सूत्रपात कुछ इस प्रकार हुआ –

१८९९ ई. में स्वामीजी के एक शिष्य स्वामी कल्याणानन्द तीर्थ-दर्शन तथा पर्यटन करते हुए राजपुताना पहुँचे; ३ जून को जयपुर रेलवे स्टेशन पर उनकी अप्रत्याशित रूप से अपने एक गुरुभाई स्वामी स्वरूपानन्द से भेंट हो गई। वे भी तीर्थाटन हेतु ही निकले थे। इस मिलन से दोनों बड़े ही आनन्दित हुए, परन्तु एक दुखद समाचार ने उन्हें अपनी आगे की सारी योजना स्थगित करने को बाध्य कर दिया। समाचार यह था कि पूरा राजस्थान भयानक अकाल की चपेट में आया हुआ है; और किशनगढ़ राज्य में तो जनता की हालत बहुत ही गम्भीर है। वहाँ की धरती और आकाश भूखे लोगों के क्रन्दन से निनादित हो रहा है। दोनों गुरुभाइयों को तीर्थ-यात्रा की अपेक्षा अकाल-पीड़ित नारायणों की सेवा में जुट जाना ही अधिक उचित लगा। वे तुरन्त किशनगढ़ जा पहुँचे और सेवा-कार्य शुरू कर दिया। कल्याणानन्द तथा स्वरूपानन्द ने किशनगढ़ के उदार लोगों की सहायता से अद्भुत कार्य सम्पन्न किया और संकटग्रस्त लोगों की पीड़ा को कम करने में यथेष्ट सफलता पाई। भिक्षा में प्राप्त धन तथा वस्तुओं के द्वारा वे प्रतिदिन लगभग तीन सौ लोगों के भोजन की व्यवस्था करते। राज्य के दीवान ने भी इस सेवा-कार्य में कई तरह से उनके साथ सहयोग किया था। उनकी चेष्टा से एक अस्थायी अनाथाश्रम भी स्थापित हुआ।[१]

किशनगढ़ में इस प्रवास के दौरान स्वरूपानन्दजी के जीवन की एक ऐसी घटना हुई, जिसमें उनकी अनुकरणीय गुरुभक्ति का ज्वलन्त उदाहरण दीख पड़ता है। वे स्वयं को स्वामी विवेकानन्द के एक अति नगण्य शिष्य के रूप में अपना परिचय देते हुए असाधारण गौरव का बोध किया करते थे। एक बार किशनगढ़ के दीवान साहब ने अपने एक मित्र के समक्ष उनका परिचय देते हुए भूल से कह दिया था कि ये महात्मा विवेकानन्द के गुरुभ्राता हैं। गुरुभक्त स्वरूपानन्द ने तत्काल आपत्ति व्यक्त करते हुए उसमें संशोधन कर दिया, "मैं स्वामी विवेकानन्द का एक अति नगण्य शिष्य तथा अनुगत सेवक मात्र हूँ।" दीवान साहब इस अद्भुत सत्यनिष्ठा पर बड़े मुग्ध हुए थे; और इससे उनके प्रति उनकी श्रद्धा में और भी वृद्धि हो गयी।[२] कुछ काल बाद स्वरूपानन्द मायावती लौट गये और कल्याणानन्द अकेले ही कार्य चलाते रहे।

विभिन्न सहायक-गण

दिन-रात कठोर परिश्रम के फलस्वरूप कल्याणानन्दजी अस्वस्थ हो गये, अत: १९०० ई. के अन्त या १९०१ ई. के शुरू में बेलूड़ मठ से उनके सहयोगी के रूप में शुकुल महाराज (आत्मानन्दजी) को वहाँ भेजा गया। बाद में निर्मलानन्दजी भी आकर उनके सहायक हुए। कल्याणानन्दजी की अस्वस्थता की सूचना पत्र द्वारा वाराणसी में चारुचन्द्र (स्वामी शुभानन्द) के पास भी पहुँची। वे दौड़े हुए क्षेमेश्वर घाट गये और केदारनाथ (अचलानन्दजी) को वह पत्र दिखाया। उन्होंने कल्याणानन्दजी को यह सूचित करने को कहा कि वाराणसी से आदमी भेजा जा रहा है। केदारनाथ भी किशनगढ़ पहुँचकर कल्याणानन्दजी के साथ सेवा-कार्य में जुट गये। यहाँ उनके हृदय के सेवा-बोध को

१. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), सं. १९७२, पृ. २६१-६२, १३६; History of Ramakrishna Math & Mission, First Ed., P. 149

२. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), पृ. ३२२

परिपुष्ट होने का खूब सुयोग मिला, परन्तु कठोर परिश्रम के फलस्वरूप थोड़े दिनों में ही केदारनाथ का भी स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया और भयंकर रक्तातिसार के रोग से वे बिस्तर पकड़ने को मजबूर हुए। कल्याणानन्द बड़ी चिन्ता में पड़े। उन्होंने किं-कर्तव्य-विमूढ़ होकर केदारनाथ से ही पूछा कि क्या वाराणसी में उनके पिता को तार भेजना उचित होगा! केदारनाथ ने कहा कि चारुचन्द्र (शुभानन्दजी) को ही इसकी सूचना देना ठीक रहेगा। वाराणसी में चारुचन्द्र यह समाचार पाकर बड़े विचलित हुए। उन्होंने महानन्द कविराज से कुछ दवाइयाँ लीं और डाक द्वारा भेज दीं। उन दवाइयों का सेवन करके केदारनाथ नीरोग हुए।

प्रथम प्रकाशित सूचना

इस राहत कार्य की प्रथम सूचना उद्‌बोधन (पाक्षिक) में 'राजपुताना में दुर्भिक्ष' शीर्षक के साथ १९०० ई. की जनवरी में प्रकाशित हुई। लेखक के स्थान पर लिखा था – एक संन्यासी द्वारा प्रेषित; तथ्यों से अनुमान किया जा सकता है कि यह स्वामी स्वरूपानन्दजी द्वारा लिखा गया था –

''श्रीरामकृष्ण मठ (बेलूड़, हावड़ा) से श्रीमत् स्वामी कल्याणानन्द को नवम्बर महीने में दुर्भिक्ष-पीड़ित राजपुताना तथा अहमदाबाद आदि स्थानों का निरीक्षण करने के लिए भेजा गया था। इन्होंने उन स्थानों का दौरा करने के बाद पिछले २८ दिसम्बर (१८९९) को राजपुताना के किशनगढ़ में एक अनाथालय की स्थापना की है। वहाँ पर जाति-धर्म का विचार किये बिना ही असहाय तथा अनाहार से आकुल समस्त बालक-बालिकाओं को लिया जाता है और पिता-माता अथवा अन्य किसी सगे-सम्बन्धी द्वारा वापस माँगे जाने पर लौटा दिया जाता है। किशनगढ़ – देशी राजा द्वारा शासित एक छोटा-सा राज्य है। वहाँ पर अनाथालय स्थापित करने का प्रधान कारण यह है कि यहाँ के प्रशासकगण स्वामी कल्याणानन्द की इस कल्याण-चेष्टा के विरोधी नहीं हैं। लगता है कि राजपुताना के किसी भी राज्य की अपेक्षा किशनगढ़ में दुर्भिक्ष-पीड़ितों के दुःखमोचन की व्यवस्था कम नहीं हुई है। तथापि यहाँ के प्रशासकगण इतना समझते हैं कि दुर्भिक्ष का जो स्वरूप है, उसमें सहायता की यह अति लघु चेष्टा भी अनादरणीय नहीं है।

''दुर्भिक्ष की पहली छबि मुझे जयपुर में देखने को मिली। राजदरबार की ओर से पीड़ितों के सहायतार्थ प्रबन्धों को देखकर लगता है कि जयपुर में किसी भी प्राणी को कोई कष्ट हो नहीं सकता। फिर, राजकर्मचारी-गण हों या प्रजा, सभी दुर्भिक्ष-पीड़ितों के दुःखमोचन के लिए यथासाध्य चेष्टा कर रहे हैं। तथापि दो-तीन दिन भ्रमण करके मैंने पूरे नगर में तथा नगर के बाहर करीब एक हजार असहाय स्त्री-पुरुषों को देखा। इनमें से बहुत-से लोग दूर के स्थानों से आये हुए थे। प्राय: सभी के अस्थि-चर्म ही बच रहे थे और वे अन्न-वस्त्र-अभाव की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे। जाड़े की रातों में ये लोग खुले स्थान में मिट्टी में पड़े रहते हैं। रास्ते में अन्न का एक दाना या किसी खाने की चीज का टुकड़ा पड़ने से, वे उसके चारों ओर के कुछ दूर तक की धूलराशि के साथ उसे उठा लेते हैं। किसी सूत्र से यह समाचार पाकर कि हम लोगों ने एक अनाथालय बनाने का संकल्प किया है, कई दिनों तक अनेक माता-पिता हमें अपनी सन्तानों को सौंपने आये थे। और भी कुछ माता-पिताओं ने अन्य लोगों द्वारा कहला भेजा था कि उन्हें कुछ कीमत मिले, तो वे एक-एक बच्चे को रखकर बाकियों को हमारे हवाले कर देंगे।

''राजपुताना में सर्वत्र ही राजा-प्रजा सभी मिलकर यथासाध्य पीड़ितों का क्लेश दूर करने का प्रयास कर रहे हैं, पर सर्वत्र ही अल्पाधिक रूप से उपरोक्त प्रकार के दृश्य देखने को मिल रहे हैं। जिन्हें लोग दयामय करते हैं, उनका अस्तित्व यदि हो, तो उनकी शक्ति मनुष्य-शक्ति की अपेक्षा अनेक-गुना अधिक होगी या नहीं, इसीलिए मनुष्य इतना प्रयास करके भी क्लेश का अति अल्प भाग ही दूर कर पा रहा है।

''शत-सहस्र नर-नारी अपने अपने बाल-बच्चों के साथ घर छोड़कर दूर के स्थानों में चले जा रहे हैं। बहुत-से लोग मार्ग में ही भूख से प्राण त्याग देते हैं, बाकी लोग मरणासन्न दशा में अन्य प्रान्तों में पहुँचकर निराश्रय, अनाहार तथा ठण्ड के कारण अपनी इहलीला समाप्त कर रहे हैं। जो लोग जीवित बचे हैं, उनके विषय में सोचना होगा कि दयामय ने अभी तक उनका भोग पूरा नहीं किया है, उनके प्रति वे और भी दया करनेवाले हैं।

''इस अंचल की कष्ट-कथा को लिखकर पूरा कर पाना हमारी क्षमता के परे है, तथापि हमारी अपनी दृष्टि में आये कुछ आदर्श चित्र हैं, जिन्हें लिपिबद्ध करके ही हम सन्तोष मानेंगे। एक वृद्ध, एक युवक तथा एक बालक आकर बोले – बहुत दिनों से खाना नहीं हुआ। जिन्होंने सुना, उन्होंने तत्काल इन तीनों लोगों को पानी मिलाकर थोड़ा-थोड़ा ब्रान्डी पिलाया और थोड़ी देर बाद ही खाने को बार्ली की गरम-गरम खीर दी। तीनों बरतन को भी चाटकर खा लेने के बाद वहीं सो गये – इसके बाद वे फिर दुबारा नहीं उठे।

''एक महिला – अपने पति तथा कई सन्तानों के साथ एक गाँव के पास आकर बैठी और शीघ्र ही छटपटाते हुए प्राण त्याग दिया। लोगों ने पास जाकर उसके पति से सुना कि वह महिला आसन्न-प्रसवा थी, भूख की ताड़ना से घर से निकल आयी थी; भूखे-पेट मार्ग चलते ठंड से मरणासन्न हो गयी थी और इसी बीच उसे प्रसव-वेदना शुरू हो गयी थी।

''एक दिन एक बालक अपने छोटे भाई को आधे रास्ते गोद में लिए और आधे रास्ते घसीटते हुए लाकर अनाथालय में पहुँचा। तत्काल उन दोनों को कुछ खाने को देकर छोटे बालक को एक चारपाई पर सुलाकर अस्पताल भेजा गया। थोड़ी देर बाद पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि बच्चे को निमोनिया हुआ था और उसकी मृत्यु हो चुकी है।

''उपरोक्त चित्रों में इस प्रदेश में कुछ भी नवीनता नहीं है। इस तरह की घटनाएँ इधर अंचल में प्राय: प्रतिदिन ही घट रही हैं। पुस्तकें पढ़कर तथा बन्धु-बान्धवों के साथ चर्चा करके जगत्स्रष्टा, जगत् तथा उनके आपसी सम्बन्ध के बारे में अनेक सिद्धान्त गढ़े जा सकते हैं। परन्तु कितने ही बार देखा है कि वास्तविक घटना में सारे सिद्धान्त चूर्ण-विचूर्ण हो जाते हैं। कह नहीं सकता कि दयामय स्रष्टा के अस्तित्व के साथ इस मर्मभेदी पीड़ा के अस्तित्व का सामंजस्य कैसे किया जा सकता है! इस घोर निष्ठुर संहार-मूर्ति में – जिसकी सुदीर्घ छाया सम्पूर्ण राजपुताना तथा अन्य दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रदेशों में पड़ रही है, मृत्यु जिनकी नि:श्वास है, जगत् को सुखानेवाली अग्नि जिनकी जिह्वा है, खड्ग तथा मुण्डमाला जिनके अलंकार हैं, जिनके डग भरने से पूरी धरती डगमगा रही है, उन्हीं घोर आसव-पानोन्मत्ता, निर्वस्त्रा, मुक्तकेशी (काली) की प्रतिमा की सार्थकता देख पाता हूँ।

''अस्तु, मैं चाहे जो भी देखूँ, यह दार्शनिक ऊहापोह का समय नहीं है। सगे-सम्बन्धी के रूप में जिनके कोई भी जीवित नहीं हैं, सगे-सम्बन्धी जिनका परित्याग करके दूर के प्रदेशों में चले गये हैं अथवा सगे-सम्बन्धी जिनका किसी भी प्रकार पालन-पोषण नहीं कर सकते, ऐसे बालक-बालिकाओं को इस दुर्दिन में कैसे कष्ट का अनुभव होता होगा, इसका कोई भी सहृदय व्यक्ति अनुभव कर सकता है। उनकी सहायता करना ही स्वामी कल्याणानन्द का विशेष लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त यदि सम्भव हुआ, तो सर्व-साधारण की सहायता करने को भी वे तैयार हैं। इस कार्य में सहायता के लिए यदि कोई कुछ दान करना चाहें, तो कृपया 'उद्बोधन' के सम्पादक के नाम अथवा राजपुताना के किशनगढ़ अनाथालय में स्वामी कल्याणानन्द के नाम भेज दें।

''स्वामी कल्याणानन्द को अब तक जो सहायता मिली है, उसका वे नीचे धन्यवाद सहित प्राप्ति-स्वीकार करते हैं।

एक संन्यासी

प्राप्ति-स्वीकार – इलाहाबाद के कुछ मित्र साढ़े ७ रुपये, सखी-समिति, कलकत्ता – १५ रुपये, एक मित्र – ५ रुपये

(हस्ताक्षर) कल्याणानन्द [३]

उद्बोधन (पाक्षिक) में दूसरा संवाद

दो माह बाद उसी पत्रिका में 'राजपुताना-अनाथालय (किशनगढ़)' शीर्षक के साथ दूसरा समाचार छपा – ''रामकृष्ण मिशन से युक्त उपरोक्त अनाथालय के अध्यक्ष स्वामी कल्याणानन्द ने हमें यह पत्र लिखा है – ''कुछ दिन हुए राजपुताना के 'फैमिन कमिश्नर' इस अनाथालय का परिदर्शन करने आये थे। वे इससे इतने सन्तुष्ट हुए हैं कि उन्होंने इसके छोटे-छोटे अनाथ बालक-बालिकाओं के लिए तरह-तरह के अनेक खिलौने भेज दिये हैं और कहा है, 'आप लोग राजपुताना में जहाँ-जहाँ और भी अनाथालय खोलना चाहें, खोल सकते हैं, मैं उसकी व्यवस्था कर दूँगा।'

''यहाँ के दीवान श्रीयुत श्यामसुन्दर लाल अनाथालय की काफी सहायता कर रहे हैं और करने का वचन दिया है। इतने लोगों के लिए रसोई बनाने के लिए सारा सामान वे शासन की ओर से दे रहे हैं, जलाने के लिए सारी लकड़ी बिना-मूल्य दे रहे हैं और यहाँ बच्चों को कार्य-शिक्षा देने के लिए स्थानीय कपड़े के मिलों तथा दरी के कारखानों में भिजवा रहे हैं। भविष्य में ये सारे अनाथ बच्चे मासिक वेतन प्राप्त करेंगे।

''कुछ दिन हुए 'भारती' के सम्पादक ने चन्दे के रूप में निम्नलिखित लोगों से ८६ रुपये हमारे पास भेजे हैं –(१) बाबू नित्यानन्द राय, बासेया, १० रु. (२) बाबू नित्यरंजन मित्र, संस्कृत कॉलेज के छात्र, ५ रु. (३) बाबू सुरेन्द्रनाथ ठाकुर, कलकत्ता २० रु. (४) बाबू लोकन्द्रनाथ पालित, जैसोर, २५ रु. (५) एक डॉक्टर, कलकत्ता, ५ रु. (६) एक महिला, कलकत्ता, १० रु. (७) एक मित्र, कलकत्ता, १ रु. (८) बी.एन. चैटर्जी, सचिव पी.डब्ल्यू.डी.क्लब सिलहट, १० रु.

निम्नलिखित लोगों ने अनाथों के लिए हमारे पास आर्थिक सहायता भेजी है – (१) श्रीयुत मधुसूदन घोष, दिनाजपुर, २५ रु. (२) श्रीयुत हरिदास चट्टोपाध्याय, भवानीपुर, कलकत्ता, ५ रु. (३) श्रीयुत रामनाथ रत्न, चाँदपुरा, राजपुताना, २ रु.

सम्प्रति यहाँ ८५ अनाथ बालक-बालिकाएँ हैं और प्रतिदिन उनकी संख्या में वृद्धि हो रही है। उपरोक्त अनाथों में से केवल २० प्रतिदिन कारखानों में कार्य करने जा रहे हैं और ५ स्थानीय अस्पताल में हैं।

(हस्ताक्षर) कल्याणानन्द

उक्त अनाथाश्रम में स्वामी कल्याणानन्द की सहायता करने हेतु सम्प्रति बेलूड़ मठ से स्वामी निर्मलानन्द तथा स्वामी आत्मानन्द रवाना हो गये हैं।[४]

------- ❖ **(क्रमश:)** ❖

३. उद्बोधन (बँगला पाक्षिक) वर्ष २, अंक १, माघ १३०६ (जन. १९००), पृ. ७-९; जुलाई-अगस्त १९७७ के अंक अन्त में पुनर्मुद्रित

४. वही (उद्बोधन) वर्ष २, अंक ६, चैत्र १३०६ (मार्च १९००), पृ. ११३-१४; और फरवरी १९८२ अंक के अन्त में पुनर्मुद्रित

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१५८. श्रद्धा ही फलदायी है

एक बार सन्त विनोबा भावे रेलगाड़ी में बैठकर दिल्ली से सेवाग्राम (वर्धा) आ रहे थे। गाड़ी ज्योंही यमुना नदी के ऊपर से होकर गुजरने लगी, त्योंही एक यात्री ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर जेब से एक पैसे का एक सिक्का निकालकर नदी में डाल दिया और आँखें बन्द करके सिर झुकाते हुए नदी को नमन करने लगा। एक अन्य सहयात्री ने यह देखा, तो विनोबाजी से बोला, "न जाने ऐसे कितने मूर्ख लोग हैं, जो रोज नदी में पैसे डालकर धन का दुरुपयोग करते हैं।" वह आगे कुछ और बोलता, इसके पहले ही विनोबाजी कहने लगे, "आपने पैसे को तो महत्त्व दिया, परन्तु पैसे को नदी में डालने के पीछे उसकी जो भावना थी, उसको जानने की कोशिश नहीं की। आपने पैसे की कीमत के आगे उसकी भावना को नगण्य समझा। मैं मानता हूँ कि उसने यह पैसा यदि किसी सत्कार्य में खर्च किया होता, तो उसका भिन्न प्रकार से सदुपयोग होता; परन्तु आपको उसकी भावना पर भी तो विचार करना था। इस व्यक्ति ने अपनी जेब का पैसा नदी में डालकर निश्चय ही त्याग किया है, परन्तु यह त्याग उसने नदी को पूजनीय और वन्दनीय मानकर किया है। यदि आपने पुराण आदि ग्रन्थों को पढ़ा होता, तो आपको ज्ञात होता कि गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि नदियाँ मूलत: देवी ही थीं। वे लोकहित के लिये प्रवाहित हुई हैं, इसी कारण उन्हें माता का दर्जा प्राप्त हुआ है। किसी भी व्यक्ति की आन्तरिक भावना को समझे बिना उसकी निन्दा करना हमारे लिये किसी भी हालत में ठीक नहीं है।"

१५९. शिक्षक की महत्ता

खलीफा मामूं ने अपने दो शहजादों को तालीम देने के लिये एक शिक्षक की नियुक्ति की थी। एक दिन जब शिक्षक उन्हें पढ़ाकर वापस जाने को हुए, तभी दोनों शाहजादे सहसा उनके पास जा पहुँचे और उन्होंने एक-एक जूते को अपने हाथों में ले लिया। शिक्षक ने जूते वापस देने को कहा, परन्तु वे न माने और उन्हें साफ करने के बाद ही नीचे रखा। खलीफा की बेगम यह सब चुपचाप देख रही थी। बाद में उसने यह बात खलीफा को बताई।

अगले दिन खलीफा ने शिक्षक से पूछा, 'बताइये, इस संसार में ऐसा कौन सबसे श्रेष्ठ है, जिसकी बन्दगी की जाय?" शिक्षक ने उत्तर दिया, "जहाँपनाह, यह भी कोई पूछने की बात हुई? इस संसार में आपसे बढ़कर भला दूसरा कौन हो सकता है?" इस पर खलीफा बोले, "नहीं, राजा से भी बड़ा शिक्षक होता है और उसका शिष्य उसे कोई काम नहीं करने देता। कल की बात लीजिये – जिसके जूते शाहजादे साफ करते हैं, क्या वह बादशाह से बड़ा नहीं हुआ।" शिक्षक ने सुना, तो झेंप गया। वह बोला, "परवर-दिगार, मैं शरमिन्दा हूँ। शहजादों ने अचानक आकर जूते हाथ में ले लिये कि मैं उन्हें रोक नहीं सका।" मामूं बोले, "आप इसके लिये अपने को कसूरवार क्यों मानते हो? शिक्षक केवल किताबी ज्ञान ही नहीं देता, वह जीवन के लिये उपयोगी हर विषय का भी ज्ञान देता है, ताकि छात्र नेक-चलन बनें, इसलिये उसके शागिर्दों का कर्तव्य है कि यथासाध्य गुरु की सेवा करें।"

१६०. सेवक प्रभु का आज्ञाकारी

रावण-वध के उपरान्त श्रीराम सीताजी के साथ अयोध्या लौट रहे थे। रास्ते में हनुमानजी उन्हें अपनी माता से मिलाने ले गये। अंजनी माता ने श्रीराम तथा सीताजी को देखा, तो गद्‌गद हो गयीं। तब श्रीराम ने उनसे कहा, "माँ, तुम्हारा पुत्र बड़ा पराक्रमी है। सीता की खोज, लंका-दहन और अनेक राक्षसों का दलन – इन सबका श्रेय तुम्हारे पुत्र को ही है। ऐसे पुत्र को जन्म देने में तुम्हें गर्व होना चाहिये।"

यह सुनकर प्रसन्न होने की जगह माता अंजनी ने जो उत्तर दिया, वह एक वीरप्रसूता माँ के लिये ही शोभनीय था। वे बोलीं, "हे राम, तुमने मेरे पुत्र की प्रशंसा की, परन्तु वह मुझे जँचा नहीं। मैं तो मानती हूँ कि मैंने उसे जन्म ही क्यों दिया? वह गर्भ से ही गलकर गिर क्यों नहीं गया? मेरे दूध की महिमा तो ऐसी है कि वह कलि का मुण्ड भी धड़ से अलग कर सकता है, फिर रावण की तो बात ही क्या थी? मैं अपने पुत्र की महिमा-गान तो तब करती, जब रावण-वध के लिये उसने तुम्हें कष्ट न दिया होता।

तब सीताजी माता अंजनी से बोलीं, "आपका पुत्र सचमुच ही पराक्रमी है। उसमें रावण का वध करने की क्षमता है, मगर वह श्रीराम का सेवक है। सेवक को जब तक स्वामी का आदेश नहीं मिलता, तब तक वह कोई भी बड़ा काम करने की धृष्टता नहीं कर सकता।" स्वामी की प्रसन्नता ही उसकी निधि है। निष्ठावान सेवक स्वामी के आदेश पर मर-मिटता है, पर बिना आज्ञा उनके कार्यों में हाथ नहीं डालता।

मैने माँ को दक्षिणेश्वर में देखा

भवतारिणी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

परिचय – भवतारिणी देवी (१८७७-१९७३) सुविख्यात 'बसुमती साहित्य मन्दिर' के संस्थापक तथा स्वामी उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय (१८६८-१९१९) की सहधर्मिणी थीं। उपेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के एक गृही शिष्य थे। उनका प्रारम्भिक जीवन बड़ी निर्धनता में बीता। श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद से परवर्ती काल में वे काफी धनवान हो गये। लेकिन उनका विपुल वैभव तथा 'बसुमती साहित्य मन्दिर' 'श्रीरामकृष्ण के सदाव्रत' को निवेदित था और वे उसके भण्डारी मात्र थे। श्रीरामकृष्ण के सभी त्यागी शिष्यों के साथ उनका प्राणों का सम्पर्क था। उनकी सहधर्मिणी भवतारिणी देवी रामकृष्ण-मण्डली में ठाकुर तथा माँ की 'कन्या' के रूप में प्रसिद्ध थीं। उनके तपस्विनी जीवन के प्रति सभी की प्रबल श्रद्धा थी। रामकृष्ण-भाव-मण्डली में वे 'बसुमती-माँ' के रूप में सुपरिचित थीं। पति के जीवित रहते ही वे प्राय: तीर्थ-भ्रमण को जाया करती थीं। १९०२ ई. में उनके वाराणसी में तीर्थ-वास करते समय स्वामीजी उनसे मिलने गये थे। १९४४ ई. के २९ फरवरी को उनके एकमात्र पौत्र रामचन्द्र की २३ वर्ष की आयु में अकाल-मृत्यु तथा इसके दो महीने बाद २६ अप्रैल को उनके पुत्र सतीशचन्द्र की मृत्यु से भवतारिणी देवी अत्यन्त शोकग्रस्त हो उठीं और एक दिन बिना किसी को कुछ बताये चुपचाप बिना कुछ साथ लिये कलकत्ते से चली गयीं। कुछ दिन वे हरिद्वार में श्मशान के किनारे स्थित एक झोपड़ी में रहीं। मठ के साधुओं की सहायता और पुत्रवधू तथा पौत्रियों के अनुरोध पर वे वहाँ से वाराणसी के औरंगाबाद मुहल्ले के अपने मकान में लौट आयीं। तभी से वे वाराणसी के मकान (पौत्र राम या रामचन्द्र की स्मृति में नामांकित) 'रामावास' में रहीं। वहीं से वे बीच-बीच में तीर्थ-भ्रमण के लिए जाया करती थीं। उन्होंने कई बार हरिद्वार, प्रयाग तथा केदार-बद्री का दर्शन किया। यहाँ तक की वे कैलाश-मानसरोवर के दर्शनार्थ भी गयीं। वाराणसी में वे नित्य गंगास्नान, विश्वनाथ अन्नपूर्णा दर्शन और श्रीरामकृष्ण के स्मरण में ही अपना दिन बितातीं। जीवन के अन्तिम समय में शरीर के रुग्ण तथा अशक्त हो जाने के कारण वे घर से नहीं निकल पाती थीं, लेकिन एकादशी को निर्जला उपवास और श्रीरामकृष्ण का स्मरण ही उनका आजीवन संगी रहा। वाराणसी के श्रीरामकृष्ण अद्वैताश्रम तथा सेवाश्रम के साधु लोग ही उनके अभिभावक थे। १९७३ ई. में ९६ वर्ष की आयु में उन्होंने परलोक-गमन किया। वे कहा करतीं थीं कि श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ – उनका दोनों के साथ पारिवारिक सम्पर्क था। श्रीरामकृष्ण के साथ अपने नाते के विषय में वे कहतीं, "ठाकुर के पिता और मेरे पिता – आपस में चचेरे भाई थे। मेरी माँ अपने अन्तिम समय तक उन्हें 'बड़े पुत्र' के रूप में सम्बोधित किया करती थीं।" (तापसी बसुमती, प्रतिमा चट्टोपाध्याय, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण, पृ. २७, भवतारिणी देवी के पिता श्रीरामकृष्ण के दादा मानिकराम चट्टोपाध्याय के बड़े भाई के पुत्र थे। माँ से नाते के बारे में भवतारिणी देवी ने बताया था, "श्यामा सुन्दरी और एलोकेशी (दीन-मयी?) दोनों बहनें थीं। श्यामा सुन्दरी की पुत्री श्रीमाँ थीं और एलोकेशी की पुत्री मैं हूँ।" (वही, पृ.७) अत: श्रीरामकृष्ण नाते में भवतारिणी देवी के भाई हुए और श्रीमाँ उनकी मौसेरी बहन हुईं। उनकी माँ श्रीमाँ की सगी मौसी थीं। वे बचपन से ही माँ को 'सारू-दीदी' और 'गाँदाफूल-दीदी' कहती थीं, वैसे परवर्ती काल में उन्हें केवल 'माँ' ही कहतीं। शुरू-शुरू में श्रीरामकृष्ण को 'दादा' कहतीं, पर बाद में उन्हें 'ठाकुर' कहने लगी थीं। जीवन के अन्त काल तक ठाकुर ही उनके ध्यान-ज्ञान, आराध्य देवता तथा जीवन-सर्वस्व थे। श्रीरामकृष्ण और माँ ने ही उनके विवाह के लिये पात्र चुना था और विवाह भी कराया था। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं उन्हें 'भवतारिणी' नाम दिया था। उन्होंने माँ की अपनी स्मृतियों का वर्णन करते हुए कहा था –

जिस समय ठाकुर स्वयं ही मुझे झामापुकुर से लेकर आये, उस समय मैं बहुत छोटी थी। अच्छी तरह बोल भी नहीं पाती थी – चुप रहती थी, इसीलिए नाम था 'हाबी'। बच्चों का तो माँ ही प्राण होती है, लेकिन माँ बदल जाने पर भी मेरे मन में कोई परिवर्तन नहीं आया। बल्कि झामापुकुर में मुझे अपनी माँ से जो कुछ मिलता था, यहाँ माँ के पास मैं उससे बहुत अधिक पाती थी। ठाकुर ने बड़े दुलार के साथ अपने मन्दिर की देवी-माँ के नाम पर मेरा नामकरण किया था

– 'भवतारिणी'। माँ कभी 'भबी', तो कभी 'भवसुन्दरी' कहकर बुलातीं। मुझे याद ही नहीं आता कि मैं झामापुकुर में एक माँ को छोड़ आयी हूँ।

* * *

दक्षिणेश्वर में मैं बहुत सारा काम करती। माँ ही छोटे-मोटे काम करने को कहतीं – "भबी, जा तो, फूल तोड़ ला; जा, हाँसपुकुर से ठाकुर के बर्तन धो ला; जा, यह कपड़ा बकुलतला घाट पर धोकर बाड़ पर सुखने को डाल दे।" मैं वैसा ही करती। वे कहतीं – "जा तो, देख आ ठाकुर क्या कर रहे हैं?" ऐसे ही दिन भर में कई बार भेजतीं। मैं भी करती। माँ ज्यादा बैठने नहीं देतीं, कुछ-न-कुछ काम कराती रहतीं।

माँ काम में लगाये रखतीं, इसका मतलब यह नहीं कि मुझसे परिश्रम करातीं। ऐसा बिल्कुल नहीं था। खूब हल्के-फुल्के काम देतीं और खूब सुन्दर-सुन्दर बातें कहतीं। सुबह आठ से नौ बजे के बीच माँ पूजा में बैठ जातीं। उसके पहले मेरा काम था – फूल तोड़ना, चन्दन घिसना और दूब चुनकर सब कुछ पूजा के पात्र में सजाकर रखना। उसमें बिल्व-पत्र और तुलसी-पत्र तो रहते ही थे। निर्देश था कि सारे बिल्व-पत्र एक ही आकर के हों, कटे-फटे होने से नहीं चलेंगे। माँ का सजाना भी एक देखने की चीज थी – पूजा की सारी चीजें ऐसी दिखतीं मानो पंचपात्र पर नक्कासी की हुई हो। चन्दन घिसना तथा फूलों को एक-एक करके सजाकर रखने में भी कैसा अभूतपूर्व सुव्यवस्थित ढंग था, इसे मैं वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकती। इतनी शीघ्रता से काम करतीं कि उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। उनके फल काटने तथा पान सजाने में भी एक कलात्मकता थी। जो देखता, वही अवाक् होकर देखता ही रह जाता। मैं तो उन दिनों कुछ समझ नहीं पाती थी। माँ ने मेरा हाथ पकड़कर सब कुछ सिखाया है। नहबत-खाना – एक छोटा-सा कमरा था और उसी में उनकी पूरी गृहस्थी चलती थी। परन्तु वह मानो एक अपूर्व सुव्यवस्था से परिपूर्ण दिव्य-धाम था। मन्दिर को भी उसके सामने हार मानना पड़ता।

माँ जब पूजा में बैठतीं, उस समय वे पहचान में नहीं आतीं। बहुत अधिक देर तक नहीं बैठतीं, लेकिन परिवेश पूरी तौर से बदल जाता। उनके पास रहने पर शरीर रोएँ खड़े हो जाते थे। पूजा के अन्त में पुकारतीं, "भबी, कहाँ गयी? आ, यहाँ सिर टेक और कह – 'ठाकुर मुझे अपना लो। हाथ पकड़े रहना।' समझी? (पूजा के आसन से ठाकुर का चित्र दिखाते हुए) ठाकुर को अच्छी तरह देख ले।" मैं, हम लोगों के ठाकुर को देखती। शुरू-शुरू में तो मैं कह उठती, "ये तो हमारे ठाकुर हैं! ये देवता कब से हो गये?" माँ हँसतीं और कहतीं, "इस समय तुझे वह सब समझने की जरूरत नहीं। बड़ी होगी, तब समझेगी। अभी तो जो देख रही है, वही देख और जो मैं कह रही हूँ केवल वही कर। दोनों समय दो बार प्रणाम करना, समझी? सुबह उठने के बाद उनके कमरे में जाकर उनके चरण छूकर प्रणाम करना।"

मैं बोली – "मैं करती तो हूँ, तुम्हीं ने तो सिखाया है। ठाकुर के पाँव छूने जाते ही तुरन्त गोद में उठा लेते हैं और कहते हैं, 'अरे भवतारिणी, तेरे इतना न करने से भी चलेगा। तू मजे में है – आसपास रहकर घूमती रहती है, वही करना और जिसके (अर्थात् माँ के) पास है, उसी को अपनी दृष्टि में रखना। समझी! तुझे और कुछ नहीं चाहिये।' " इस पर माँ खूब प्रसन्न होकर मेरे सिर पर हाथ रखकर चूम लेतीं और अंजली भरकर फल-मिठाइयों का प्रसाद देतीं।

* * *

ठाकुर रात में कितना सोते थे, यह तो वे ही जानें। दूसरे लोग भी थोड़ा-बहुत सोयें, यह वे सहन नहीं कर पाते थे। पैरों में चप्पल पहने चट-चट करते हुए आकर नहबत-खाने के दरवाजे की फाँक से कहते, "ओ लक्ष्मी, ओ भवतारिणी, उठ न रे, कितना सोयेगी?" नाम तो वे हम लोगों का लेकर पुकारते, परन्तु बात माँ के लिये कही जाती। लेकिन माँ इसके पहले ही उठ बैठतीं – गला खँखारकर बोलतीं, "उठ गयी हूँ जी, तुम चिन्ता मत करो।"

ठाकुर पंचवटी की तरफ चले जाते। माँ कहती, "अभी तुम लोगों को उठने की जरूरत नहीं। सो जाओ।" मैं करवट बदलकर सो जाती। किसी-किसी दिन नींद न आने पर देखती, माँ अँधेरी रात में ही अकेली बकुलतला घाट पर जातीं, फिर थोड़ी देर बाद आकर कपड़े सूखने को डाल देतीं; पास ही ठाकुर का आसन था, उस पर ठाकुर का चित्रपट रखकर मुख पोंछकर बैठातीं। इसके बाद चुपचाप पट के पास बैठकर मानो कैसी हो जातीं। लगता कि कोई दूसरा ही व्यक्ति बैठा है। अन्य दो-एक भक्त-स्त्रियों या लक्ष्मी दीदी के रहने पर माँ मुझे जल्दी उठा देतीं और कहतीं, "उठ, जाकर हाँसपुकुर में हाथ-मुँह धो ले।" उसी समय माँ एक बार ठाकुर के कमरे में जाकर बिस्तर आदि तह करके रख आतीं। किसी-किसी दिन मुझे भी ले जातीं और मेरे हाथ से काम करातीं। अधिकांश दिन ठाकुर उस समय भवतारिणी देवी के मन्दिर में रहते।

माँ हर कार्य बड़ी शीघ्रतापूर्वक करतीं, पर अस्त-व्यस्त ढंग से काम उन्हें जरा भी पसन्द न था। शुरू में मैं अस्त-व्यस्त ढंग से काम करती थी। माँ हाथ पकड़कर सिखातीं, खड़ी रहकर करने को कहतीं। कहतीं – 'देख भबी, पूजा आदि और क्या करेगी! हर काम पूजा है, अभी से यह गाँठ बाँध ले – स्त्रियों के लिये ये सारे कार्य पूजा हैं, समझी!"

कोई भी कार्य करने के पहले माँ थोड़ा-सा गंगाजल हाथ

में लेने को कहतीं। स्वयं भी लेतीं और हम लोगों के सिर पर छिड़क देतीं। वे गंगाजल को 'ब्रह्मवारि' कहा करती थीं। मुझे यह बात याद हो गयी थी। तभी से आज भी कुछ करने के पहले लगता है – 'ब्रह्मवारि' चाहिये। आचार-विचार के विषय में माँ को सनक नहीं थी। कपड़ा आदि भी वे बार-बार बदलने को नहीं कहती थीं। मैं तो खूब छुटपन से ही साड़ी पहनती थी। माँ स्वयं मेरे सिर पर आँचल डालतीं। दोनों समय ठाकुर के कमरे में कुछ-न-कुछ करने भेजतीं।

* * *

पीताम्बर भण्डारी की पुत्री और दक्षिणेश्वर गाँव की दो-तीन मेरी समवयस्क लड़कियाँ हर रोज मेरे साथ खेलने आतीं। वे सभी माँ और ठाकुर को खूब प्रिय थीं। उनके साथ मैं कितने सब खेल खेलती – दौड़-भाग, वृक्ष के डाल को पकड़कर झूलना, हाँसपुकुर में तैरना, और भी कितना कुछ! लेकिन उसी के बीच भागकर माँ को देख जाती। एक दिन बड़ा मजा आया। झामापुकुर के मकान से कई सम्बन्धी आये थे। वे लोग जयरामबाटी से गंगा नहाने कलकत्ते आये थे। बीच में समय निकालकर वे अपनी सारू तथा पागल जमाई को देखने आये थे। देखने आये थे कि सारू की गृहस्थी कैसी चल रही है? कुछ छह लोग रहे होंगे। आते ही वे लोग ठाकुर से मिले, फिर नहबतखाने में आये। कितनी ही बातें होने लगीं – गाँव की पुरानी बातें! मैं एक किनारे बैठी हुई सब सुनती रही। इसी बीच माँ की ही आयु की एक महिला कह उठी, "क्यों रे, गेंदाफूल, मेरी याद तो है न! या फिर भोलानाथ पति को पाकर अपनी 'जवा' को बिल्कुल भूल ही गयी है?" इतना कहकर वह माँ की गाल पर हल्के से आघात करती हुई खिलखिला कर हँस पड़ी। तत्काल पास बैठी एक अन्य महिला पूछ बैठी, "क्यों रे? खोलकर बता, हम लोग भी सुनें।" माँ तो लज्जाशील थीं, केवल हँसकर रह गयीं। दूसरी महिला बोली, "वर्षा के मौसम में एक दिन हम दोनों (गाँव के) बाडूज्ये-पुकुर में नहाने गयी थीं और पाँव फिसल जाने के कारण गिर पड़ीं, लेकिन दोनों ने एक-दूसरे को नहीं छोड़ा। दोनों एक-दूसरे को पकड़े रहीं। पास ही उपस्थित एक वृद्ध महिला ने हम दोनों को खींचकर निकाल लिया। तब भी हम दोनों एक-दूसरे को पकड़े हुए थीं। यह देखकर उन्होंने कहा, 'लगता है कि तुम दोनों सखियाँ हो? मैंने तुम दोनों का नाम गेंदा और जवा रखा है, समझी?" बहुत मजा आया। तभी से सारू का नाम 'गेंदा' और मेरा नाम 'जवा' पड़ गया।"

प्रतिदिन शाम को मुझे कुछ-न-कुछ काम करना पड़ता था – ठाकुर ने अपने साथ ले जाकर स्वयं ही सिखा दिया था – गाजीपीर के चबूतरे पर संध्या-दीप जलाना, उसके बाद नहबत में माँ के पूजा-स्थान पर धूप-धूना जलाना – माँ वहाँ नियम से बैठती थीं। संध्या के समय जो लोग नहबत में रहतीं, वे भी माँ को घेरकर बैठतीं। मैं तो माँ की देह से सटकर बैठती। ठाकुर के विग्रह से अधिक तो मैं माँ को ही देखती रहती। उस समय उनकी एक अद्‌भुत मूर्ति रहती। उधर सभी मन्दिरों में आरती चलती, ठाकुर के कमरे में हरि-नाम होता और गंगा के वक्ष पर चारों ओर मानो दीपावली की आभा प्रतिबिम्बित होती रहती – एक दिव्य परिवेश रहता। उस समय मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता – सब कुछ भूल जाता। यह प्रतिदिन के जीवन का अविच्छेद्य अंग था, जिसे भूला नहीं जा सकता। बचपन की बहुत-सी बातें विस्मृति की गुफा में जा चुकी हैं, परन्तु उस छन्दोबद्ध सांध्य आवेश की छाया, आज भी मेरे स्मृतिपटल से लुप्त नहीं हुई है।

ठाकुर कहते, "सुबह-शाम सब छोड़कर ईश्वर का नाम लेना।" स्वयं तालियाँ बजाकर नाम बुलवाते। कहते, 'गला खोकर बोल, भीतर की सारी मलिनता बाहर निकल जायेगी, देह-मन पवित्र होगा।" अब तो वे पास में नहीं हैं, लेकिन संध्या होते ही मानो आज भी मेरे स्वर-में-स्वर मिलाकर 'हरिनाम', 'रामनाम' बोलते हैं – मैं भलीभाँति समझ पाती हूँ कि यह बंशी के समान सुरीला उन्हीं का कण्ठ-स्वर है।

संध्या के बाद सारा काम खत्म हो जाने पर मैं ठाकुर के कमरे में जाती। उस समय वे प्राय: अकेले अन्यमनस्क बैठे रहते, ज्यादा बातचीत नहीं करते। केवल कहते, "अरे, वहाँ छोटी चौकी पर प्रसाद रखा है, नहबत में दे आ; तेरे लिये भी रखा है, खा ले।" मैं नहबत में माँ को प्रसाद का थाल देकर स्वयं भी खाने के बाद ठाकुर की छोटी खाट पर लेट जाती और सो जाती। बहुत रात होने पर माँ मुझे नहबत में ले जातीं। उस समय मेरी नींद खुल जाती और माँ, मैं तथा अन्य कोई रहने पर हम रात का खाना खातीं। इसके बाद मैं माँ की गोद में लेटकर कहानी सुनाने की जिद करती। माँ पूछतीं, आज उन्होंने (ठाकुर) क्या कहा याद है? बता तो सुनूँ?" माँ सुनतीं और स्वयं भी बहुत-सी बातें बतातीं।

एक दिन कहानी चल रही थी, तभी मैंने माँ से कहा – "तुम्हारा नाम तो गेंदा-फूल है और तुम्हारी सहेली का नाम जवा है, है न? उस दिन जयरामबाटी से जो लोग आये थे, उन्होंने बताया था न! मैं भी तुम्हें 'गेंदा-फूल' दीदी कहूँगी, क्यों?" माँ बोलीं, "क्यों रे, 'माँ' कहकर बुलाना अच्छा नहीं लगता क्या?" – "ऐसी बात नहीं है, फिर भी मैं गेंदा-फूल -दीदी कहूँगी।" माँ ने मना नहीं किया। मुझे लगा कि उनकी असहमति नहीं है। उसके बाद से मैं माँ को 'गेंदा-फूल-दीदी' कहकर ही पुकारती। माँ भी प्रत्युत्तर देतीं।

(शेष आगामी अंक में)

कर्मयोग की साधना (२)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – "किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।" भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

४. कर्म तथा ध्यान में अन्तर्द्वन्द्व

शायद ही कोई ऐसा सच्चा साधक होगा, जिसे कभी ध्यान तथा कर्म के बीच द्वन्द्व का सामना न करना पड़ा हो। इस द्वन्द्व के जो कारण हैं, वे प्राय: सर्वविदित हैं। उनमें से एक तो यह है कि इनके उद्देश्यों तथा कार्य-पद्धति में जमीन-आसमान का भेद है। ऐसा लगता है मानो कर्म एक ऐसी गति है, जो हमें ईश्वर से दूर – संसार तथा इसकी समस्याओं के बीच ले जा रही हो; जबकि ध्यान आपात् दृष्टि से एक अन्दर की गति है, जो दिव्यता तथा शान्ति की ओर ले जाती है। द्वितीयत: जिम्मेदारियाँ सँभालना, लोगों के साथ व्यवहार करना, भविष्य के लिये योजनाएँ बनाना तथा कर्म से जुड़ी अन्य अपरिहार्य समस्याएँ, ध्यान के समय मन को विक्षुब्ध करती हैं। तीसरी कठिनाई यह है कि ध्यान के समय अर्जित की हुई शान्ति तथा अन्तर्मुखता के भाव को हम अपने कार्य के दौरान बनाये रखने में असमर्थ होते हैं।

भारतीय संस्कृति का मननशील जीवन की ओर झुकाव होने के कारण ऐसा द्वन्द्व भारत में ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। परन्तु थोड़े कम प्रबल रूप में यह अन्य संस्कृतियों में भी विद्यमान है और प्राय: मठों तथा साधक-मण्डलियों में ही दीख पड़ता है। ईसाई धर्म में यह बाइबिल में वर्णित मार्था तथा मेरी नामक दो बहनों की कथा के माध्यम से प्रकट हुआ है। (ईसा मसीह तथा उनके शिष्यों के आने पर मार्था उनके स्वागत तथा सत्कार में व्यस्त हो गयी थी, जबकि मेरी ने ईसा के चरणों में बैठना तथा सेवा करना ही पसन्द किया।)

कर्म तथा ध्यान के बीच सम्बन्ध

वैदिक धर्म के प्रारम्भिक काल से ही भारतीय ऋषियों ने कर्म तथा ध्यान के बीच सम्बन्ध पर विचार किया है। प्रारम्भिक वैदिक काल में ध्यान भी यज्ञ के अनुष्ठान का एक अविभाज्य अंग था। दोनों का अलगाव एक अत्यन्त धीमी प्रक्रिया थी और उपनिषदों के काल तक पहुँचकर ही ध्यान (जिसे विद्या या उपासना कहते थे) को एक पूर्णत: स्वतंत्र साधना का दर्जा मिल गया। उपनिषद् दोनों के भिन्न-भिन्न फल की घोषणा करते हैं – "यज्ञ के द्वारा पितृलोक की और ध्यान के द्वारा देवलोक की प्राप्ति होती है।[३]

तथापि अद्वैत के आचार्यों ने कभी इनके मूल सम्बन्ध का विस्मरण नहीं किया; और ध्यान तथा आनुष्ठानिक कर्म – दोनों को एक साथ कर्म के ही दो भिन्न रूप कहा। क्योंकि दोनों की विशेषता है – क्रिया, कारक तथा फल; और कर्ता तथा कर्म के रूप में द्वैत भाव प्रकट होता है। इस प्रकार ये दोनों ज्ञान से भिन्न हैं, क्योंकि अपने वास्तविक स्वरूप से अद्वैत होने के कारण ज्ञान ऐसे भेदों से परे है।[४] चूँकि ज्ञान से भिन्न सब कुछ ही अज्ञान है, अत: कर्म तथा ध्यान दोनों ही अज्ञान की उपज हैं और सीधे मुक्ति तक नहीं पहुँचा सकते। चित्त की शुद्धि तथा बाधाओं को दूर करने के रूप में उनका कार्य मुख्यत: नकारात्मक है।

दूसरी ओर भक्ति-सम्प्रदायों के आचार्यगण ध्यान तथा कर्म को मूलत: विभिन्न साधनाएँ मानते हैं। रामानुज ध्यान (उपासना) को भक्ति का समानार्थी मानते हैं, जो स्वयं ही अविच्छिन्न स्मृति के रूप में ईश्वरीय ज्ञान का एक विशेष प्रकार है।[५] अन्य आचार्यों द्वारा की गयी भक्ति की परिभाषा सूचित करती है कि उनके मतानुसार भी भक्ति एक उच्चतर प्रकार का ध्यान है और कर्म से पूर्णत: पृथक् है। उनका यह भी मानना है कि कर्म अपने आप में मुक्ति का कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है, बल्कि ईश्वर-पूजा के रूप में किये जाने पर वह एक अप्रत्यक्ष साधन बन जाता है।

कर्म का ध्यानमय जीवन के साथ समन्वय

वर्तमान सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ अधिकांश साधकों को दीर्घ काल ध्यान में बिताने का अवसर नहीं देतीं। यहाँ तक कि जिन लोगों के पास संसाधन तथा अवकाश है, उनमें से भी अधिकांश लोगों को पागल होने से बचने के लिये स्वयं को किसी-न-किसी कार्य में लगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन एक या दो घण्टे किये गये ध्यान का लाभ

---

३. कर्मणा पितृलोक: विद्यया देवलोक:। (बृहदारण्यक.,१/५/१६)

४. बृहदारण्यक उपनिषद् पर शंकराचार्य की भूमिका

५. स्मृति-सन्तान-रूपं दर्शन-समानाकारं ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यम्। (रामानुजाचार्य, गीताभाष्य, ७/१)

दिन भर की गतिविधियों के द्वारा खर्च हो जाता है। अत: जब तक ध्यान तथा कर्म के विवाद का निपटारा नहीं हो जाता, तब तक हमारी आध्यात्मिक प्रगति बड़ी धीमी होगी। एक अन्य कारण से भी कर्म का ध्यानमय जीवन के साथ समन्वय आवश्यक है। कर्म स्वयं भी चेतना को उतना ही रूपान्तरित करता है, जितना कि ध्यान, यद्यपि इसके प्रभाव को (बाहर से) ज्यादा स्पष्ट रूप से नहीं देखा जा सकता। जब हम अपने कर्म के फलों पर चर्चा करते हैं, तो बहुधा हमारा तात्पर्य अपने कर्म द्वारा बाह्य जगत् में हुए परिवर्तन से होता है – कैसे हमने इस या उस व्यक्ति को प्रभावित किया? हमने कितना धन कमाया? आदि, आदि। परन्तु कर्म के फलस्वरूप हमारी चेतना में जो परिवर्तन आता है, उसके बारे में हम शायद ही कभी सोचते हैं। इसके बावजूद, जो कुछ भी हम करते हैं, वह हमसे अनजाने ही धीरे-धीरे हमारे दृष्टिकोणों, विचारों, संवेदनाओं, एकाग्रता की क्षमता और सजगता के गुण तथा दिशाओं में परिवर्तन लाता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि यदि कोई बारह वर्षों तक किसी अन्य व्यक्ति की सेवा करे, तो उसे उसके गुणों की प्राप्ति हो जायेगी। कर्म बाह्य जगत् में जितना बदलाव लाता है, उतना ही कर्मी के व्यक्तित्व में भी लाता है। कर्म की इस रूपान्तरकारिणी क्षमता के कारण ही कार्ल मार्क्स ने अपने सामाजिक बदलाव के दर्शन में कर्म को एक केन्द्रीय स्थान दिया है। हम लोग अपने विचारों तथा भावों के द्वारा इतने वशीभूत हो जाते हैं कि कर्म द्वारा अपने भीतर लाये गये सूक्ष्म परिवर्तनों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। साधकगण बहुधा ध्यान के महत्त्व को अतिरंजित करते हैं और कर्म में निहित मानव-चेतना को रूपान्तरित करने की शक्ति की अवहेलना करते हैं।

एक तीसरा तत्त्व भी कर्म को महत्त्वपूर्ण बनाता है और वह यह है कि यही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा हम स्वयं को वास्तविक रूप से जगत् से सम्बद्ध कर सकते हैं। हमारे मन में उच्च आदर्श तथा सपने हो सकते हैं, परन्तु कर्म ही अन्य लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध निर्धारित करता है। मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है, वही समाज में उसका स्थान निर्धारित करता है।[६] हमारे कर्म के आधार पर ही समाज हमारा मूल्यांकन करता है और यदि हम अपना कार्य ठीक ढंग से न करें, तो हमारे लिये दूसरों के साथ सामंजस्य बनाकर रह पाना असम्भव हो जाता है।

६. यही विचार भारत में जातिप्रथा का आधार था। मूलत: हर जाति एक विशेष प्रकार के कार्य की द्योतक थी। अंग्रेज दार्शनिक एफ. एच. ब्राडले (१८४६-१९२४) ने अपनी 'My Station and its Duties' (मेरी स्थिति और उसके कर्तव्य) की धारणा के माध्यम से इसी तरह के विचार का विकास किया था, पर वह कभी लोकप्रिय नहीं हुआ।

अन्तिम बात यह है कि सभी व्यक्तियों में एक अन्तर्निहित रचनात्मक प्रवृत्ति होती है। हम न केवल अनुभव तथा ग्रहण करना चाहते हैं, बल्कि हम अभिव्यक्ति तथा सृजन भी करना चाहते हैं। हमने जो कुछ अर्जित किया है, उसे हम दूसरों में बाँटना चाहते हैं, हम अपने व्यक्तिगत जीवन में दूसरों को भी सहभागी बनाना चाहते हैं। केवल कर्म के द्वारा ही हमारी सृजन-शक्ति को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। जब हम अपनी सृजन-शक्ति को पूर्ण अभिव्यक्ति देनेवाले सही ढंग के कार्य कर पाते हैं, तो जीवन-ऊर्जा हमारे माध्यम से उन्मुक्त रूप से प्रवाहित होती है। तब हमारा जीवन उद्देश्यपूर्ण, सार्थक तथा आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। यदि हम गलत प्रकार का कार्य करें, या कोई कार्य ही न करें, तो हमारी सृजन-शक्ति हमारे भीतर ही अवरुद्ध रह जाती है। तब हमारा जीवन खोखला तथा निरर्थक बन जाता है।[७]

नि:स्वार्थता या अनासक्ति – न केवल कर्मयोग का, अपितु ज्ञानयोग तथा भक्तियोग सहित पूरे निवृत्ति मार्ग का भी प्रमुख वैशिष्ट्य है। यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है और वर्तमान काल में इसे काफी महत्त्व दिया जा रहा है, वह यह है कि कर्मयोग क्या सीधे मुक्ति की प्राप्ति करा सकता है? कुछ मीमांसा-दार्शनिकों को अपवाद मान लें, तो अधिकांश महान् हिन्दू धर्माचार्य इस विषय में एकमत हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। उनके मतानुसार कर्मयोग केवल एक प्राथमिक साधना है, तीनों योगों में सबसे निचले स्तर का है और बहुत हुआ तो यह केवल मन की शुद्धि कर सकता है। इस परम्परागत दृष्टिकोण के विरोध में बहुधा यह कहा जाता है कि स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि कर्मयोग सीधे मुक्ति तक पहुँचा सकता है। हमें इन दृष्टिकोणों का विश्लेषण करके देखना होगा।

५. आचार्य शंकर की दृष्टि में कर्म

श्री शंकराचार्य के जीवन के दो उद्देश्य थे। एक था – अन्य सभी मतवादों के ऊपर अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित करना। अद्वैत मत के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और वह अनन्त, अक्षय, अखण्ड तथा निर्गुण है। इस ब्रह्म की अनुभूति ही मुक्ति-प्राप्ति का एकमात्र साधन है और शंकराचार्य इसी को ज्ञान कहते हैं। उनके मतानुसार चूँकि कर्म स्थूल वस्तुओं के माध्यम से होता है; और गति तथा परिवर्तन से

७. मार्क्स के कर्म की अवधारणा में यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। उनके मतानुसार धन कमाना व्यक्ति को अमानवीयता की ओर ले जाता है और कर्म का मुख्य उद्देश्य धन कमाना नहीं, अपितु अपनी आत्मा का बोध था। आत्मबोध से उनका तात्पर्य था – मानवीय आकांक्षाओं तथा सृजनात्मक शक्तियों का पूर्ण विकास तथा अभिव्यक्ति। कर्म जब इस उच्चतर आदर्श की पूर्ति नहीं करता, तो यह व्यक्ति को मानवता तथा जीवन से विच्छिन्नता की ओर ले जाता है।

जुड़ा है, अत: कर्म का ब्रह्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कर्म में कर्ता, कारक, क्रिया, फल आदि भेद विद्यमान होते हैं, जिनका अद्वैत-ज्ञान में कोई अस्तित्व नहीं होता। शंकराचार्य के मतानुसार कर्म माया या अज्ञान का एक प्राथमिक उपज है, अत: ज्ञान तक नहीं ले जा सकता, क्योंकि ज्ञान – ब्रह्म की स्व-अभिव्यक्ति है और अन्य सभी तत्त्वों से पूर्णत: स्वाधीन है।

अद्वैतवाद की सर्वोच्चता स्थापित करने में मुख्य बाधा थी, मीमांसकों का यह विचार कि ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष की परिभाषा करते हुए प्रभाकर कहते हैं कि समस्त पाप-पुण्यों के पूर्ण विनाश के फलस्वरूप शरीर का पूर्णत: लोप।[८] कुमारिल भट्ट का मत है कि ज्ञान बहुत हुआ तो, कर्म की स्थूल अवस्था को नष्ट कर सकता है, परन्तु इसके अन्तर्निहित या सूक्ष्म अवस्था को नष्ट नहीं कर सकता।[९] पिछले जन्मों में किये हुए कर्मों के संचित फल सूक्ष्म अवस्था में पड़े हुए हैं और अनासक्त कर्म के द्वारा क्रमश: इस पूरी फलराशि को समाप्त करना होगा, भले ही इसमें कई जन्म क्यों न लग जायँ। उनके मतानुसार नि:स्वार्थ कर्म चित्तशुद्धि के लिये नहीं, अपितु इसका एकमात्र उद्देश्य है नये कर्मफलों को संचित होने से रोकना। चूँकि ज्ञान तथा भक्ति का कर्म पर कोई प्रभाव नहीं होता, मीमांसक सिद्धान्त मनुष्य को एक सजीव रोबोट (स्वचालित यंत्र) की स्थिति में सीमाबद्ध कर देता है।

वेदान्त के सभी आचार्यों ने इस विचित्र सिद्धान्त को नकार दिया है, क्योंकि यह ईश्वर को अस्तित्वहीन और ज्ञान-भक्ति को निरर्थक बना देता है। शंकराचार्य के मतानुसार सभी कर्मों का मूल कारण अज्ञान या माया है; और जब उच्चतर ज्ञान के द्वारा इस अज्ञान को नष्ट कर दिया जाता है, तो (स्थूल तथा सूक्ष्म) सभी कर्म लुप्त हो जाते हैं और व्यक्ति मुक्ति पा लेता है। मुख्यत: इसी कारण वे दृढ़तापूर्वक कर्म तथा भक्ति के सह-अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। भक्ति के सम्प्रदाय यह मानते हैं कि ईश्वर की कृपा से कर्म की जड़ों का ही नाश हो जाता है।

श्री शंकराचार्य के जीवन का दूसरा लक्ष्य था – परम्परागत हिन्दू धर्म के भीतर ही संन्यासियों के एक ऐसे संघ का गठन करना, जो समाजिक उत्तरदायित्वों से मुक्त रहकर पूरे हृदय से अद्वैत-ज्ञान की अनुभूति तथा प्रचार को समर्पित हों। इसमें भी उन्हें मीमांसक कर्मकाण्डियों के विरोध का सामना करना पड़ा, जिनका दावा था कि वेदों द्वारा निर्दिष्ट याग-यज्ञ तथा अनुष्ठान सबके लिये अनिवार्य हैं और इनकी उपेक्षा करने से पाप का उदय होता है। यदि भारत में यह मतवाद स्वीकृत हो गया होता, तो नास्तिकता तथा साम्प्रदायिक कट्टरता (धार्मिक असहिष्णुता) के फलस्वरूप राष्ट्र की अन्तरात्मा का दम घुट गया होता और इस देश पर भी अन्ध-युगों का आधिपत्य हो जाता। परन्तु महान् आचार्य ने मीमांसा सिद्धान्त की नि:सारता पर ऐसा प्रबल आघात किया कि यह कभी अपना सिर नहीं उठा सका। संन्यासियों को धार्मिक कर्तव्यों के उत्तरदायित्व से मुक्ति देकर श्री शंकराचार्य ने मुक्त भाव से दार्शनिक जिज्ञासा को जीवन-दान प्रदान किया और भारत में संन्यासी-सम्प्रदाय के प्रसार में सहायता की।

आधुनिक सामाजिक-आर्थिक मानदण्डों द्वारा मूल्यांकन करने पर, श्री शंकराचार्य द्वारा कर्म के महत्त्व को कम बताना अनुचित प्रतीत हो सकता है; परन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि उन्होंने यह कार्य ब्रह्म की सर्वोच्चता स्थापित करने के एकमात्र उद्देश्य से किया था। उन्होंने अतीन्द्रिय असीम ब्रह्म को जान लेने के अहंकारपूर्ण दावों पर आघात किया। इसके फलस्वरूप अहंकार को स्वयं-ज्योति ईश्वर या ब्रह्म की अनन्तता तथा स्वयं-ज्योति के आलोक के समक्ष विनयपूर्वक दण्डायमान होना पड़ा। यदि ईश्वर ही स्वयं को प्रकट करें, तभी आध्यात्मिक अनुभूति सम्भव है।

हमें स्मरण रखना होगा कि शंकराचार्य के विचार से, न केवल कर्म, अपितु उपासना (ध्यान) भी ब्रह्म की उपलब्धि कराने में अक्षम हैं। यद्यपि वे हमेशा कर्मकाण्ड तथा ध्यान में भेद करते हैं और ध्यान को कर्म से उत्कृष्ट मानते हैं, तथापि ध्यान भी उनकी दृष्टि में एक तरह का कर्म है। वे अपने गीता-भाष्य में कहते हैं –

"ब्रह्मानुभूति से रहित कोई व्यक्ति जब बिना कोई कर्म किये बैठकर सोचता है कि – 'ठीक है, इस समय मैं कोई कर्म नहीं कर रहा हूँ; मैं शान्त और चुपचाप हूँ' – तो वह गलत सोचता है, क्योंकि वह निष्क्रियता के गुण को शरीर तथा मन से जोड़ रहा है, आत्मा से नहीं। सत्त्व, रजस् और तमस् – इन तीन गुणों से मिलकर निर्मित होने के कारण शरीर तथा मन में निरन्तर सूक्ष्म परिवर्तन होता रहता है। एकमात्र ब्रह्म ही परिवर्तन तथा क्रिया से पूर्णत: मुक्त है। दूसरे शब्दों में, जब तक ब्रह्म की अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक अस्तित्व की किसी भी अवस्था को, जिसमें कर्ता या भोक्ता का बोध हो, उसे कर्मक्षेत्र के अन्तर्गत ही मानना होगा। इसी युक्ति से, द्वैतवादी बोध से मुक्त ब्रह्मज्ञानी द्वारा सम्पन्न किसी भी क्रिया को कर्म नहीं माना जा सकता।[१०]

❖ (क्रमश:) ❖

८. आत्यन्तिकस्तु देहच्छेदो नि:शेष-धर्माधर्म-परिक्षय-निबन्धनो मोक्ष:। (तत्त्वालोक, प्रकरण-पंचिका)

९. द्र. श्लोक-वार्तिक, सम्बन्धाक्षेप-परिहार, श्लोक ९४-९६, १०१

१०. भगवद्-गीता की श्लोक-संख्या ४/१८ तथा २/१० पर श्री शंकराचार्य की व्याख्या।

स्वामी विवेकानन्द के महान् शिष्य –

स्वामी विरजानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

इसी प्रकार १४-१५ महीने बीत गये। पिंजरे में आबद्ध सिंह पुन: बेचैन हो उठे। कालीकृष्ण के आन्तरिक वैराग्य ने उन्हें फिर से व्याकुल कर डाला। उन्होंने अपने मन की अवस्था व्यक्त करते हुए जयरामबाटी में माँ को एक लम्बा पत्र लिखा था। पत्र की हर पंक्ति में मर्मस्पर्शी भाव से एक संसार-विरागी बालक के हृदय की आकुलता व्यक्त हो उठी है। संसार मानो उन्हें निगल जाना चाहता था, इसीलिये भयभीत सन्तान ने सरल हृदय के साथ माँ से आशीर्वाद की भिक्षा माँगते हुए एक पत्र लिखा था, जो इस प्रकार है –

श्रीरामकृष्ण श्रीचरण भरोसा

५ अक्तूबर १८९५
३९ नं. नारिकेलडाँगा मेन रोड
कोलकाता

परमपूजनीया परमाराध्या श्री माता ठाकुरानी के चरणों में

माँ – अपने श्रीचरणों में मेरे असंख्य प्रणाम स्वीकार करें।... माँ, मैं आपको बारम्बार पत्र नहीं लिखता, इसका कारण आप स्वयं ही जानती हैं। परन्तु अब एक विशेष संकट में पड़कर भयपूर्वक आपको यह पत्र लिख रहा हूँ।

मन में बड़ी इच्छा थी कि जयरामबाटी जाकर आपके चरणों का दर्शन करूँगा और यदि लज्जा-घृणा-भय का त्याग कर सका, तो अपने मन की पीड़ा को स्पष्ट रूप से आपके समक्ष कहूँगा। परन्तु आपके प्रति आकर्षण न होने के कारण और यही मलेरिया का मौसम है, ऐसा सोचकर मुझे जाने का साहस नहीं हुआ। मैं अपने हृदय की पीड़ा को भला एक पत्र के माध्यम से कैसे व्यक्त करूँ? सभी लोग आपको अन्तर्यामिनी कहते हैं, तो भी यदि आप उसे नहीं जानतीं, तो फिर यह मेरा दुर्भाग्य ही है। और यदि आप सब कुछ जानती हैं, तो फिर मेरे दु:ख दूर क्यों नहीं करतीं, इस बात को मैं कैसे समझूँ? सुना था कि आप दयामयी हैं। ... आपने भी कहा था – 'इसे क्या पत्थर की मूर्ति समझ लिया है?' जो भी हो, मैं जानता हूँ कि यदि मैं अपनी अवस्था सूचित करूँ, तो आपको अवश्य ही दु:ख होगा, परन्तु क्या करूँ, मुझे बड़ा भय लग रहा है – ऐसा लग रहा है मानो भविष्य मुझे निगल जायेगा। माँ, तुम्हें नहीं, तो फिर अन्य किसे सूचित करूँगा? कौन मुझे अभय तथा शान्ति प्रदान कर सकेगा? और आपको कहने से यदि आप भी मेरी कामना को पूर्ण न करें, तो मैं भला क्या करूँगा, यही समझूँगा कि मेरा प्रारब्ध या पूर्व कर्मों का फल है।

माँ, मेरा जो भी हो या न हो, मर भी जाऊँ तो क्या तुम्हें दोष दे सकूँगा? आपने मुझे घर भेजा और यह कहते हुए कितना अभय तथा आश्वासन दिया है कि 'घर में रहकर उन्हें पुकारने से और भी जल्दी उन्नति होगी'। परन्तु वैसा नहीं हुआ, इस कारण आप ऊपर जाकर मेरे लिये कितना रोने लगीं, उसे क्या मैं मर जाने पर भी भूल सकूँगा? एक दिन संध्या के समय मेरे घर लौटते समय गंगा में मेरी नाव पर वर्षा होने लगी थी, तब आप व्याकुल होकर गंगा की ओर देखती हुई छत पर खड़ी हो गयीं और मेरे शरीर पर वर्षा की कितनी बूँदें पड़ी होंगी, यह देखने के लिये स्वयं वर्षा में भीगती रहीं, यह भी क्या मैं जनम भर भूल सकूँगा? माँ, उस समय आपने मुझे मलेरिया से कष्ट पाते देखकर, स्नेह से व्यथित होकर और अन्य कारणों से घर जाने पर मैं आराम से रहूँगा, यह सोचकर आपने घर जाने को कहा और कितनी कृपा की! मैंने भी घर जाकर पहला वर्ष आपके निर्देशानुसार खूब साधना करते हुए बिताया। उन दिनों मेरा थोड़ा भी समय व्यर्थ नष्ट नहीं होता था। तब मैं दिन में साढ़े चौदह घण्टे और ८५ हजार जप किया करता था। परन्तु अब ५-६ घण्टे और ३० हजार जप भी नहीं हो पाता। उन दिनों अधिक जप करता था, इसलिये मन में बड़ा तेज था, परन्तु अब मैं काफी नीचे गिर गया हूँ, मन अत्यन्त दुर्बल है, कितने ही प्रकार की आसक्तियाँ नचा रही हैं और धर्मभाव मानो पूरी तौर से लुप्त हो गया है। माँ, यदि दो-चार वर्ष और भी इसी प्रकार रहूँ, तो आप देखेंगी कि मैं क्या हो जाऊँगा। ...

माँ, लगभग डेढ़ महीने हुए, एक बार मैं बागबाजार गया था। वहाँ योगेन बाबू[१] ने अपने स्वास्थ्य में सुधार हेतु वृन्दावन जाने की बड़ी इच्छा प्रकट की थी। उन्होंने कहा था, "मेरी सेवा के लिये साथ जाने को कोई आदमी नहीं मिल

१. स्वामी योगानन्द। मठ के संन्यासी-गण तब भी अपने पूर्वाश्रम के नाम से ही जाने जाते थे।

रहा है, यदि तुम चलने को राजी होओ, तो मैं जाऊँ।'' मैंने जाना स्वीकार किया और सोचा कि योगेनबाबू जितने दिन पश्चिमी भारत में रहेंगे, तब तक उनके साथ रहूँगा और बाद में यदि वे कोलकाता लौटें, तो मैं उधर ही रह जाऊँगा। मैंने जब अपने मन की यह बात घर में बतायी, तो पिता-माता दोनों ने मुझे जाने की अनुमति दी और मेरे जाने के लिये जिन-जिन चीजों की जरूरत होती, माँ ने वह सब कुछ देने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु अब योगेनबाबू का भाव देखकर लगता है कि अब उनकी पश्चिम की ओर जाने की वैसी इच्छा नहीं रह गयी है। माँ, यदि आप अनुमति दें, तो मैं अब अकेला ही वृन्दावन चला जाऊँ। वहाँ बाबूरामबाबू[२] तथा सुबोधबाबू[३] पहले से ही हैं। बलरामबाबू के कुंज में रहने तथा खाने का कोई कष्ट नहीं होगा। पश्चिमी भारत में दो-एक वर्ष मैं अकेला नहीं रहूँगा। यदि बाबूरामबाबू या सुबोधबाबू कोलकाता लौट आयें, तो भी मैं मठ के किसी अन्य के पश्चिम में रहने पर, मैं उनके पास जाकर उन्हीं के साथ रहूँगा। माँ, मेरा उद्देश्य भ्रमण करना या संन्यासी का साज पहनना मात्र तो नहीं है। जहाँ भी रहने को जगह और खाने को दो रोटियाँ मिल जायँ, वहीं शान्त भाव से साधन कर सकूँगा।... आप यह आशंका मत कीजियेगा कि यह लड़का कहाँ जायेगा? या कहीं उसे ज्यादा कष्ट न उठाना पड़े ! यहीं पर मैं क्या कम कष्ट पा रहा हूँ ! इतने दिनों तक सहन करता रहा, पर आपसे कुछ कहा नहीं। आपके पूछने पर केवल 'मजे में हूँ' – यही कहता रहा। मैं जितना ही सहन करता हूँ, उतना ही दीख पड़ता है कि ये लोग मुझे ग्रास कर लेना चाहते हैं। मठ के बारह लोगों ने मुझसे कम आयु के होकर भी संन्यास ग्रहण किया है। परन्तु यह बात भी सत्य है कि उन लोगों के साथ मेरी कोई तुलना नहीं हो सकती। माँ, अब आपको जो उत्तम प्रतीत हो, वही लिखकर भेजियेगा।

माँ, आप मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं दिन-रात साधन-भजन में लगा रह सकूँ और मन की सारी कुप्रवृत्तियों का पूर्णतः नाश हो जाय। विशेषकर यह आशीर्वाद दीजिये कि आपके श्रीचरणों में मेरी सदा-सर्वदा अचला प्रेम-भक्ति हो।

माँ, मैं तुम्हारी अत्यन्त अयोग्य सन्तान हूँ। देखिये माँ, यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य से स्नेह-प्रीति पाता है, तो स्वाभाविक रूप से उसके प्रति उसे आकर्षण या प्रेम का अनुभव होता है। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आप मनुष्य होकर आयी हैं और हमारे प्रति कितने अकल्पनीय रूपों में स्नेह-प्रेम-यत्न-दया-माया प्रगट कर रही हैं, तो भी मेरा पापी मन आपके प्रति अनुरक्त नहीं हो सका। पुत्र परदेश में रहे तो उसके मन में माँ के लिये कितनी चिन्ता होती है, माँ को देखने के लिये कितनी व्याकुलता होती है ! परन्तु माँ से दूर रहने पर भी मुझे तो कभी भी कष्ट-बोध नहीं होता। माँ, आपने आश्वासन दिया था, 'होगा, होगा।' माँ, वह धीरे-धीरे होगा, या फिर अचानक हो जायेगा? धीरे-धीरे होने पर तो इतने दिनों (२-३ वर्षों) में थोड़ा कुछ तो होता। माँ, आप अपने गुण से कृपा कीजिये। मठ में जो लोग संन्यासी हुए हैं, उनमें से भला किसने कृपा को छोड़, स्वयं अपने बल पर संसार का त्याग किया है? मैं एक अकिंचन हूँ; यदि आपकी कृपा हो, तो क्या मैं भी संन्यासी नहीं हो सकूँगा?

माँ, खेलात[४] ने एक बार आपसे पूछा था, ''आपके लिये असम्भव क्या है?'' इस पर आपने कहा था, ''मेरे लिये असम्भव वे हैं।'' आपने किस अर्थ में ऐसा कहा था, यह मैं नहीं जानता; परन्तु सारदाबाबू[५] के मुख से मैंने सुना था कि उन्होंने (श्रीरामकृष्ण) आपके विषय में कहा था –

अनन्त राधा की माया, कहा नहीं जाय।
कोटि कृष्ण कोटि राम; आयें, रहें, जायँ।।[६]

आप जो भी चाहें, वह सब पूरा कर सकती हैं, परन्तु क्यों नहीं करतीं, यह आप ही जानें। आप यदि समझती हैं कि घर में रहने से मेरा कल्याण होगा; और बाहर रहने से अहित होगा, तो क्या आप उसे भी कल्याण में नहीं बदल सकतीं? आप सब कुछ जानती और समझती हैं, इसलिये मैं अधिक क्या लिखूँगा? आप जो उचित समझें, उसे लिख भेजिये। मैं आपकी अनुमति की प्रतीक्षा में हूँ, जितनी जल्दी हो सके, बताइयेगा। आपका स्वास्थ्य अब कैसा है, यह विशेष रूप से सूचित कीजियेगा।

आपकी एक अयोग्य सन्तान

कालीकृष्ण

बालक वैरागी की मधुर हठयुक्त प्रार्थना से माँ का हृदय अविचलित नहीं रह सका। प्रार्थना का उत्तर शीघ्र मिला। माँ ने अपने अनुमति-पत्र में लिखा था –

श्रीश्री काली

जयरामबाटी
७ अक्तूबर १८९५

चिरंजीवी पुत्र,

मेरा विशेष शुभाशीर्वाद लेना। बेटा, मुझे तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे कष्ट की बात पढ़कर अत्यन्त दुःख हुआ। तुम यदि वृन्दावन जाकर गोविन्दजी का दर्शन कर सको, तो बड़ा अच्छा होगा। अपने माता-पिता की अनुमति लेकर गोविन्दजी का दर्शन करने जाना। विजय, खगेन, सुशील,

२. स्वामी प्रेमानन्द ३. स्वामी सुबोधानन्द

४. बाल्यबन्धु खेलात चट्टोपाध्याय ५. स्वामी त्रिगुणातीतानन्द

६. (भावार्थ) राधा की अनन्त माया का वर्णन नहीं किया जा सकता। (उनकी शक्ति से) करोड़ों कृष्ण और करोड़ों राम आते हैं, निवास करते हैं और वापस लौट जाते हैं।

खेलात, शशी, फनी, हरिपद, कानाई आदि को मेरा आशीर्वाद कहना। अपनी माता को भी मेरा आशीर्वाद देना।

तुम्हारी

माता ठाकुरानी

पत्र द्वारा माँ की अनुमति पाते ही कालीकृष्ण अविलम्ब आलमबाजार मठ में गये और सबके साथ मिलने के बाद सीधे जयरामबाटी जा पहुँचे। उन्हें देखकर माँ को अपार आनन्द हुआ और उन्होंने आशीर्वाद दिया – "ठाकुर के प्रति तुम्हारी अचला भक्ति हो।" २० अक्तूबर १८९५ को कालीकृष्ण ने आनन्दपूर्ण हृदय के साथ वाराणसी होते हुए वृन्दावन के लिये रवाना हुए। यात्रा के दौरान उन्होंने माँ को एक पत्र और लिखा, वैसे उस पत्र का लेखन काशी पहुँचकर ही पूरा हुआ था। इस पत्र में उनके सरल आनन्दोच्छल वैराग्य की प्रतिछाया प्रस्फुटित हो उठी है। कालीकृष्ण का पत्र इस प्रकार है –

श्रीरामकृष्ण श्रीचरण भरोसा

२२ अक्तूबर १८९५

परम पूजनीया परमाराध्या श्रीमाता ठाकुरानी –

माँ, अपने चरणों में मेरे असंख्य साष्टांग प्रणाम स्वीकार कीजियेगा। माँ, आपकी विशेष कृपा से आज मैंने घर छोड़कर पश्चिमी भारत की ओर यात्रा आरम्भ की है। यद्यपि जब मेरे घर से विदा लेते समय माँ रोने लगी थीं, तथापि उन्होंने मेरे भावी कल्याण हेतु पूरे हृदय से आशीर्वाद दिये। यदि मेरी जन्मदात्री माँ ऐसी न होतीं, तो क्या मैं भी ऐसा हो पाता? ... आपसे मैं केवल इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि उनका मंगल हो। आप आशीर्वाद दीजिये, जिससे उनके मन को शान्ति मिले।

माँ, तुम्हारा पुत्र अब अकेला है। जगत् की विभिन्न विपत्तियों तथा कठिनाइयों से उसकी रक्षा करके आप उसकी सहायता करें। माँ, आपकी करुणा अपार है – मैं केवल अपने अविश्वास के कारण ही चिन्ता किया करता हूँ। माँ, ऐसा कीजिये कि मैं आपको कभी न भूलूँ। सदा-सर्वदा आपका ध्यान तथा मनन करता रह सकूँ। माँ, तुम्हारे सिवा मेरे जीवन का अन्य कुछ भी उद्देश्य न हो। तुम मुझे अन्य कुछ दो, या न दो, इतना तो करना ही होगा कि आपके श्रीचरणों में मेरी हार्दिक तता अचला प्रेम-भक्ति अवश्य हो।

आपकी अनुमति पाकर मुझे जितना आनन्द हुआ है, उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। माँ, मैं अपना सारा भार तुम्हीं को सौंपता हूँ। तुम माँ हो, मेरा हाथ मत छोड़ना, अन्यथा मैं गिर पड़ूँगा। जिस पथ पर, जिस तरह से चलकर मैं शीघ्रातिशीघ्र आपके श्रीचरणों में प्रस्फुटित हो सकूँ, आप बलपूर्वक मुझे उसी दिशा में ले चलिये। माँ, मुझे पूरी तौर से अपने स्मरण में तल्लीन रखना।

माँ, मैं मंगलवार को सुबह वाराणसी आ पहुँचा हूँ। वंशी दत्त के मकान में गोपाल दादा[७] के साथ हूँ। यहाँ गोपाल दादा मेरा बड़ा खयाल रखते हैं, कोई कष्ट नहीं है। माँ, यहाँ ८-१० दिन रहने की इच्छा है, उसके बाद राखाल बाबू[८] तथा योगीन बाबू[९] से सलाह लेकर अयोध्या-दर्शन करने के बाद वृन्दावन जाऊँगा। इस बार आपके यहाँ जगद्धात्री-पूजा नहीं देख सकूँगा। माँ, आशीर्वाद दीजिये कि आपके श्रीचरणों में मेरी अचला प्रेम-भक्ति हो।

माँ, आपका स्नेहपात्र

कालीकृष्ण

पुनश्च – माँ, मैंने राखालबाबू तथा योगेनबाबू के कहने से गेरुआ वस्त्र पहन लिया है।

वाराणसी में स्वामी अद्वैतानन्द तथा ठाकुर के और भी कई प्रमुख त्यागी शिष्यों – ब्रह्मानन्दजी, योगानन्दजी, शिवानन्दजी, अभेदानन्दजी के सान्निध्य में आकर कालीकृष्ण परम आनन्दपूर्वक पुनः अपने भाव में डूबने लगे। वहाँ भी श्रीमाँ का एक आशीर्वादी पत्र आया था। माँ ने कालीकृष्ण को लिखा था –

श्री दुर्गा शरणम्

३१ अक्तूबर, १८९८

जयरामबाटी

श्रीमान कालीकृष्ण

तुम्हारा पत्र पाकर प्रसन्नता हुई। तुम्हारी पूजनीया माँ तथा तुम्हें भी आशीर्वाद देती हूँ। तुम लोगों के लिये मैं सर्वदा उनसे प्रार्थना करती रहती हूँ। बीच-बीच में अपनी कुशलता सूचित करके मुझे सुखी करना। श्रीमान गोपाल को मेरा आशीर्वाद बताना और बीच-बीच में अपनी कुशलता का संवाद देने को कहना। कोलकाता से शरत् तथा और भी कई लड़के आये हैं ...। तुम यदि स्वयं किसी तीर्थ का दर्शन करो, तो मुझे सारी बातें लिखकर भेजना। तुम मेरा आशीर्वाद ग्रहण करना। सावधान रहना, सर्वदा उनकी ओर दृष्टि रखते हुए चलना और बीच-बीच में मुझे पत्र देकर सुखी करना। इति –

शुभाकांक्षिणी

माता ठाकुरानी

पुनश्च – गोपाल (अद्वैतानन्द) को शरत् (सारदानन्द) का प्रणाम सूचित करना और तुम उसका स्नेह स्वीकार करना।

काशी में रहते समय कालीकृष्ण द्वार-द्वार जाकर माधुकरी भिक्षा करने के खूब अभ्यस्त हो गये थे। इसी प्रकार लगभग

---

७. स्वामी अद्वैतानन्द ८. स्वामी ब्रह्मानन्द ९. स्वामी योगानन्द

एक माह काशीवास करने के बाद वे वृन्दावन-धाम गये। मार्ग में उन्होंने अयोध्या आदि का भी दर्शन किया। उन दिनों स्वामी प्रेमानन्द वृन्दावन के 'कालाबाबू के कुंज' में निवास कर रहे थे। एक ही कमरे में बाबूराम महाराज के पूत संग में वृन्दावन-वास का यह दुर्लभ सौभाग्य पाकर कालीकृष्ण आनन्द-विभोर रहा करते। अब वे पुन: अपने बहु-आकांक्षित ध्यान-भजन आदि में डूबने लगे। वृन्दावन में लगभग एक माह तपस्या आदि में बिताने के बाद उन्होंने अपने बाल्यबन्धु खगेन्द्रनाथ (विमलानन्द) के नाम एक पत्र में अपनी तत्कालीन मन:स्थिति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पत्र में एक स्थान पर कालीकृष्ण ने लिखा है – "तथाकथित 'गृहसुख' तथा प्रिय मित्रों का साहचर्य छोड़कर, अब मैं एक दूसरी ही दुनिया में निवास कर रहा हूँ। भगवान के दर्शन की एकमात्र आशा लेकर मैं इस पुण्य तीर्थ में आया हूँ। कोई भी अनित्य सांसारिक झंझट यहाँ नहीं हैं। कष्ट तथा शारीरिक दुर्बलता की मैं परवाह नहीं करता। मेरी दृष्टि केवल आत्मा के नवजन्म पर लगी हुई है। हमारी श्रीमाँ की असीम कृपा है।"

माधुकरी भिक्षा, तपस्या तथा व्रज-मण्डल की परिक्रमा आदि करते हुए उनके दिन बड़े आनन्द में बीतने लगे। जप-ध्यान की मात्रा उन्होंने इतनी अधिक बढ़ा दी थी कि रात में कालाबाबू के कुंज की छत पर बैठकर जप-ध्यान करते समय कई बार वर्षा की बूँदें उनके शरीर पर पड़ती रहतीं, तो भी वे आसन छोड़कर उठते नहीं थे। वृन्दावन में स्वामी प्रेमानन्द के पूत साहचर्य में इसी प्रकार लगभग डेढ़ वर्ष बीत गये। परन्तु इस प्रचण्ड कठोरता की उनके शरीर पर भयंकर प्रतिक्रिया दीख पड़ी और क्रमश: वे काफी दुर्बल हो गये। कालीकृष्ण इस तपस्या-काल की स्मृतियों का आजीवन बड़े आवेग के साथ स्मरण किया करते थे।

बाद में स्वामी विज्ञानानन्द के नाम से सुपरिचित होनेवाले हरिप्रसन्न चैटर्जी, तब भी संसार त्यागकर संन्यासी-संघ में सम्मिलित नहीं हो सके थे। उन दिनों वे उत्तर प्रदेश के इटावा नगर में जिला-इंजीनियर के पद पर नियुक्त थे। प्रेमानन्दजी इस आशा में कालीकृष्ण को साथ लेकर उनके घर गये कि वहाँ उनके लिये उपयुक्त चिकित्सा, जलवायु-परिवर्तन तथा बेहतर औषधि-पथ्य आदि की व्यवस्था हो सके। हरिप्रसन्न महाराज के आदर-यत्न तथा सुव्यवस्था के फलस्वरूप थोड़े ही दिनों मे कालीकृष्ण पुन: स्वस्थ हो गये।

वे पुन: वृन्दावन लौटे। १८९६ ई. के अन्त में एक शुभ समाचार मिला कि स्वामी विवेकानन्द स्वदेश लौट रहे हैं। इससे बाबूराम महाराज तथा कालीकृष्ण दोनों को ही पश्चिमी बंगाल लौटने की इच्छा हुई। स्वामीजी का आकर्षण अदम्य था। कोलकाता लौटते समय दोनों ने कामारपुकुर तथा जयरामबाटी जाकर श्रीमाँ का दर्शन भी कर लिया। वहाँ से वे तारकेश्वर तथा बाबूराम महाराज के जन्मस्थान आँटपुर गये। वहाँ कुछ दिन बिताने के बाद १८९७ ई. की फरवरी/मार्च में वे आलमबाजार मठ लौट आये। स्वामीजी कुछ दिनों पूर्व ही वहाँ आ पहुँचे थे।

इतने दिनों से कालीकृष्ण जिनकी बाट जोह रहे थे, इतने दिनों से वे जिनका ध्यान-चिन्तन कर रहे थे, आज उन्हीं का साक्षात् दर्शन हुआ। इसी बीच मठ के गुरुभाइयों से स्वामीजी ने भी कालीकृष्ण के बारे में सुन रखा था। इसीलिये कालीकृष्ण के आकर दर्शन तथा प्रणाम करते ही स्वामीजी ने – "ओह, तो यही लड़का है?" कहकर स्नेहपूर्वक कालीकृष्ण के मुख की ओर देखा। स्वामीजी के इस प्रथम दर्शन के बाद कालीकृष्ण के मन में जो भाव जगे थे, उन्हें उन्होंने स्वयं ही निम्नलिखित शब्दों में लिपिबद्ध किया है –

"वे ही सम्मोहक नेत्र, जिनके बारे में मैंने सुन रखा था और अमेरिकी समाचार-पत्रों की कतरनों में पढ़ रखा था! उनके पूरे शरीर से मानो एक ज्योति निकल रही थी। क्या ही आकर्षक व्यक्तित्व था – एक ही आधार में सौन्दर्य तथा महाशक्ति का प्रकाश, एक प्रशान्त भाव तथा एक देदीप्यमान व्यक्तित्व था। उनके बारे में मेरी प्रथम धारणा हुई – प्रेम, भक्ति तथा भय के एक मिश्रित भाव की।

"उन दिनों स्वामीजी का रंग खूब गोरा दिखता था। मुख सर्वदा ही मानो एक अपूर्व भाव तथा तेज से अग्नि-जैसा दमकता था। उनकी ओर देखा नहीं जाता था, लगता कि उनकी आँखों की ओर देखने से मेरी आँखें झुलस जायेंगी। जब वे कौपीन मात्र धारण किये, अपने भाव में डूबे, सिंह के समान भवन की छत पर टहलते, तो उन्हें देखकर लगता मानो धर्मजगत् के नेपोलियन हों; और उनके प्रत्येक पदचाप से पूरी पृथ्वी कम्पित हो रही हो। लगता मानो निरन्तर एक महाशक्ति का स्फुरण तथा विकिरण हो रहा हो।"

❖ (क्रमश:) ❖

जाको राखे राम, ताको मार सके न कोइ

डॉ. मीता बसु (एम.ए., पी. एच. डी.)

सन्त कहते हैं – ''जाको राखो राम, ताको मार सके न कोइ – ईश्वर स्वयं जिसकी रक्षा करते हैं, उसे कोई भी नहीं मार सकता।'' हम अखबारों में प्राय: ही पढ़ते रहते हैं कि भूकम्प, सुनामी आदि प्राकृतिक आपदाओं तथा आतंकवादियों के हमले में भी बहुत लोग मारे गये। परन्तु साथ ही अनेक लोगों के आश्चर्यजनक ढंग से बच जाने की भी समाचार आते रहते हैं। ईश्वर उनकी रक्षा करते हैं। सुनामी में एक बीस दिन का बच्चा जीवित बच गया। वह बच्चा चटाई पर लेटा था; जल का स्तर जितना ऊपर उठा, बालक भी चटाई के साथ उतना ही ऊपर उठता गया। वह जल पर ही उतराता रहा, डूबा नहीं। इसी से हम देखते हैं कि ईश्वर जिनकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे कोई भी मार नहीं सकता।

संसारी लोग कुछ प्राप्ति की आशा करके पूजा करते हैं और मन्नतें माँगते हैं। सामान्य जन के लिये पूजा या प्रार्थना का अर्थ है – ईश्वर से कुछ-न-कुछ माँगना – अपने परिवार का कल्याण, बच्चों की पढ़ाई, बेटी की शादी, बेटे की नौकरी, बीमारी से छुटकारा, आदि-आदि। ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो स्वयं ईश्वर को ही चाहते हों अथवा मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा रखते हों। वे लोग नहीं जानते हैं कि केवल ईश्वर को ही पाने की इच्छा रखनेवाले सब कुछ ईश्वर पर छोड़ देते हैं, ईश्वर स्वयं उनकी रक्षा करते हैं। एक कहानी है।

एक देश के राजा, किसी अन्य देश की यात्रा पर जा रहे थे। यात्रा से पूर्व उन्होंने अपनी चार रानियों से पूछा कि विदेश से वे उनके लिये क्या लेकर आयें? तीन रानियों ने तो अपनी-अपनी इच्छायें व्यक्त कर दीं, पर छोटी रानी बोली – ''मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं तो इतना ही चाहती हूँ कि आप सकुशल वापस आ जायँ।'' क्योंकि राजा रहेंगे, तो सब कुछ की प्राप्ति होगी और यदि राजा न रहे, तो किसी भी चीज की प्राप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार यदि हम ईश्वर का भजन करें, उन्हीं की माँग करें, तो हमारे कुछ न माँगने पर भी वे हमारी सभी इच्छाएँ पूरी करेंगे। पर हमारी इच्छा शुद्ध होनी चाहिये। इच्छा शुद्ध होगी, तो वह पूरी भी होगी। श्रीरामकृष्ण कहते कि ईश्वर चींटी के चलने की पगध्वनि भी सुनते हैं। तात्पर्य यह कि ईश्वर को अपने मन की बातें बताने की जरूरत नहीं पड़ती। जो लोग शुद्ध मन और भाव से उनका भजन करते हैं, उन पर विश्वास रखते हैं, सब कुछ उन्हीं पर छोड़ देते हैं, तो ईश्वर स्वयं ही सदा उनकी रक्षा करते हैं।

हम जो कुछ चाहते हैं, उस समय लगता है कि उसकी हमें विशेष जरूरत है। पर बाद में देखा जाता है कि उस चाहत से कोई अन्य समस्या खड़ी हो जाती है। कोई बेटे की प्राप्ति के लिये प्रार्थना-मन्नतें करते हैं, बेटा होता भी है, पर बाद में सम्भव है कि उसी बेटे से उन्हें बहुत दु:ख झेलना पड़े। कोई प्रार्थना करता है कि मेरे पुत्र या पुत्री को विदेश जाने का मौका मिले। फिर देखने में आता है कि विदेश जाकर उसे कई तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। या फिर बेटा विदेश में ही बस गया और बुढ़ापे में उनके लिये कोई सहारा नहीं रहा। इसलिये हमारे लिये क्या ठीक है और क्या नहीं – इसका विचार हम नहीं कर सकते। हमें सब कुछ ईश्वर पर ही छोड़ देना चाहिये।

श्रीमाँ स्वयं जगदम्बा – जगद्धात्री थीं, तो भी उन्हें जीवन में कितनी कठिनाइयाँ सहनी पड़ीं! उनके जीवन से हमें यही शिक्षा मिलती है कि संघर्ष तथा दु:ख तो जीवन के अंग हैं। ईश्वर उन्हीं की रक्षा करते हैं, जो कठिनाइयों को सह सकते हैं। श्रीरामकृष्ण देव के देहत्याग के बाद स्वामी विवेकानन्द को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा – एक ओर श्रीमाँ को देखना, दूसरी ओर सभी गुरुभाइयों को साथ लेकर संगठन बनाना। उनके अपने परिवार की हालत भी तब बहुत खस्ता थी, घर में खाने को कुछ भी नहीं था। तो भी सारी कठिनाइयों का सामना करके, अपने विश्वास पर अटल रहकर, स्वामीजी ने रामकृष्ण मठ की स्थापना की।

जैसे रात के बाद दिन आता है, वैसे ही दु:ख के बाद खुशी आती है। ईश्वर सदा मंगलमय हैं। दु:ख का कारण हम हमेशा समझ नहीं पाते। जैसे एक छोटा-सा बादल का टुकड़ा सूर्य को ढँक देता है; वैसे ही हमारे अज्ञान, लोभ तथा कामनाएँ हमें ईश्वर से दूर रखती हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – जैसे एक अँधेरे बन्द कमरे में एक छेद कर दो, तो उसमें सूर्य-किरण प्रविष्ट हो जाती है। छेद जितना ही बड़ा होगा, कमरे में प्रकाश भी उतना अधिक प्रविष्ट होगा। वैसे ही हमारा मन जितना साफ होगा, हम ईश्वर पर जितना भरोसा करेंगे, उतना ही हमें ईश्वर-कृपा का अनुभव होगा।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – अस्थिर पानी में सूर्य या चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार हम अपने मन को जितना ही स्थिर कर पायेंगे, सांसारिक झंझटों से विचलित न होकर, तरह-तरह की इच्छाओं से अपने मन को बचाकर जितना निर्मल तथा निर्लोभ कर पायेंगे, उतना ही हम ईश्वर तथा उनकी महिमा का अनुभव कर सकेंगे।

प्रह्लाद की कथा हम सब जानते हैं। उनके पिता हिरण्यकस्यपु

शेष अगले पृष्ठ पर

इलाहाबाद मठ की शताब्दी (२०१०)

विगत जनवरी माह में तीर्थराज प्रयाग (इलाहाबाद) के मुट्ठीगंज मुहल्ले में स्थित रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम का शताब्दी समारोह सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आयोजित समारोह के पहले दिन १७ जनवरी, रविवार को 'स्वामी ब्रह्मानन्द जयन्ती' के अवसर पर रामकृष्ण मठ तथा मिशन के परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज के कर-कमलों द्वारा मठ में पुनर्निर्मित सार्वजनीन श्रीरामकृष्ण मन्दिर का उद्घाटन सुसम्पन्न हुआ। उस दिन प्रात: ५ बजे विभिन्न केन्द्रों से आगत सन्तों द्वारा पुराने मन्दिर में मंगल-आरती, वैदिक मंत्र-पाठ तथा भजन किया गया। ७ बजे संन्यासी-ब्रह्मचारियों के द्वारा 'रामकृष्ण-शरणम्' गीत के साथ नृत्य करते हुये पुराने मन्दिर से नये मन्दिर में ठाकुर-माँ-स्वामीजी की प्रतिमाओं को लेकर नये मन्दिर में प्रवेश हुआ। श्री ठाकुर की प्रतिमा लिये हुए थे संघ के वरिष्ठ उपाध्यक्ष स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज, माँ सारदा देवी का चित्र लिये थे स्वामी अच्युतानन्दजी, स्वामी विवेकानन्दजी की प्रतिमा लिये थे स्वामी सत्यरूपानन्दजी और स्वामी विज्ञानानन्दजी की प्रतिमा लिये थे स्वामी निखिलात्मानन्दजी, श्रीरामकृष्ण देव की बड़ी प्रतिमा लिये थे रामकृष्ण मिशन, लखनऊ के सचिव स्वामी मुक्तिनाथानन्दजी और रामकृष्ण मिशन, वाराणसी के स्वामी अन्नपूर्णानन्दजी। ७.३० बजे नये मन्दिर के भीतर तीन बार परिक्रमा करने के बाद श्रीठाकुर का कपाट खुला और उनकी भव्य मूर्ति को देखकर सभी लोग बड़े ही प्रसन्नता से भाव-विभोर होकर नृत्य करने लगे। पूज्यपाद परमाध्यक्ष महाराज बैठे हुये थे और उन्हें घेरकर संन्यासी-ब्रह्मचारियों ने नृत्य किया। प्रयाग की कड़कड़ाती ठण्ड में भी वातावरण बहुत ही आनन्दमय हो गया। सभी लोग आनन्द में विभोर हो गये। ८.३० बजे श्रीरामकृष्ण की विशेष-पूजा बेलूड़ मठ के प्रधान पुजारी स्वामी वैद्यनाथानन्दजी द्वारा की गयी। तंत्रधारक थे वेद-विद्यालय, बेलूड़ के प्राचार्य तथा न्यासी स्वामी तत्त्वविदानन्दजी। ९ बजे नये मन्दिर में सन्तों द्वारा श्रीरामनाम-संकीर्तन और भजन हुये। ११ बजे मन्दिर के सामने रामकृष्ण मठ-मिशन के परमाध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष महाराज के साथ सभी संन्यासी-ब्रह्मचारियों का समूह-चित्र लिया गया।

शाम ४ बजे से ६ बजे तक आश्रम के सत्संग भवन में सार्वजनिक सभा हुई। स्वामी आत्मविदानन्दजी, स्वामी आत्मज्ञानन्दजी और स्वामी समचित्तानन्दजी ने वैदिक शान्तिमंत्रों का पाठ किया तथा स्वामी समचित्तानन्दजी के – "नाथ तुम भवभय निवारी" – उद्‌बोधन-गीत के साथ सभा प्रारम्भ हुई। आश्रम के सचिव स्वामी त्यागात्मानन्दजी ने पूज्यपाद परमाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज, उपाध्यक्ष स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज, विभिन्न केन्द्रों से आगत संन्यासियों-ब्रह्मचारियों, स्वयंसेवकों और भक्तों का हार्दिक स्वागत किया। सभा की अध्यक्षता करते हुये अपने आशीर्वचन में स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज ने कहा – "आज बहुत ही आनन्द का दिन है। बहुत दिनों से चल रहा मन्दिर का कार्य आज सम्पन्न हो गया। ठाकुर का मन्दिर हो गया। जिन लोगों ने इस कार्य में दान दिया है, उन सबका परम मंगल होगा। ठाकुर ने कहा है कि दायें हाथ से भगवान को पकड़ो और बायें हाथ से काम करो, तो सब ठीक होगा। आप लोग सुबह-शाम इस मन्दिर में आना और लाभ उठाना। आप सबके मंगल के लिये मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ।" स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने कहा – "हमें प्रसन्नता है कि स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज के शिष्य स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज के द्वारा आज प्रात: पुनर्निर्मित मन्दिर का उद्घाटन हुआ। पूज्यपाद महाराज के कर-कमलों के स्पर्श से वह मूर्ति नहीं रही, अब यह श्रीठाकुर की साक्षात् प्रतिमा है। हमें विचार करना है। ठाकुर कहते थे कि ईश्वर ही वस्तु और सब अवस्तु है। हमारा ईश्वर में मन क्यों नहीं लगता? क्योंकि यह अनित्य को पकड़कर बैठा है। ५०० रुपये के नकली नोट को असली मानकर उसी को पकड़े बैठा है। श्रीरामकृष्ण ने एक बार रेशमी धोती पहनकर और तम्बाकू पीकर उसका त्याग कर दिया। मन को

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ने कितने ही प्रकार से उसे मारने की चेष्टा की – विष-प्रयोग किया, ऊँचे पहाड़ से नीचे गिरवाया, हाथी से कुचलवाया, आग में जलवाया; पर हर बार भगवान विष्णु ने स्वयं उनकी रक्षा की। इसी प्रकार ईश्वर पर विश्वास रख कर, उन्हीं पर सब कुछ छोड़ देने से, वे जरूर हमारी रक्षा करते हैं – मात्र एक जन्म में ही नहीं, प्रत्येक जन्म में रक्षा करते हैं। ❑ ❑ ❑

समझा दिया कि यह अनित्य है। हमें भी अपने मन को हजारों-करोड़ों बार समझाना होगा, इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है – **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय**। ठाकुर ने कहा था कि यदि जगत् सत्य होता, तो मैं कामारपुकुर को सोने से मढ़वा देता। जगत् को अनित्य मानकर ईश्वर से प्रेम करें। मन जब तक पूर्णता में प्रतिष्ठित नहीं होगा, तब तक जीवन में आध्यात्मिकता नहीं आयेगी।''

स्वामी निखिलात्मानन्दजी महाराज ने कहा – ''एक ओर तो इस मन्दिर का उद्घाटन है और दूसरी ओर इस मठ की शतवार्षिकी भी मनायी जा रही है। जामवन्तजी ही कलियुग में स्वामी विज्ञानानन्दजी के रूप में आते हैं और श्रीरामकृष्ण से मल्लयुद्ध करते हैं। मल्लयुद्ध के द्वारा ही ठाकुर उनमें शक्ति-संचार करते हैं। स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज ने प्रयाग में त्रिवेणी माई का, काशी में भगवान शिव का और कलकत्ते में माँ काली का दर्शन किया। सारनाथ में भगवान बुद्ध का दर्शन करते हुये उन्हें अनुभव हुआ कि सर्वत्र प्रकाश -रूप निराकार चैतन्य ही विद्यमान है।'' स्वामी निखिलेश्वरानन्दजी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। सभा का संचालन महाविद्यालय के प्राचार्य श्री शशिकान्त मिश्र जी ने किया। इस सत्र का समापन स्वामी आत्मज्ञानन्दजी के गीत 'आपनि करिले आपनार पूजा' से सम्पन्न हुआ, तबला-वादन बलराम शर्मा और सहयोगी ऋषभ शर्मा थे। शाम ६ बजे नये मन्दिर में भगवान श्रीरामकृष्णदेव की भव्य आरती स्वामी वैद्यनाथानन्दजी द्वारा सम्पन्न हुई। शाम ७ बजे से स्वामी सर्वगानन्दजी के भजन और ७.४० से रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के बालिकाओं के द्वारा मनोहारी 'श्रीरामकृष्ण बाल्य-लीला' नाटक की प्रस्तुति की गई। उस दिन को 'श्रीरामकृष्ण दिवस' के रूप में मनाया गया।

अगले दिन १८ जनवरी, सोमवार को 'माँ सारदा दिवस' के रूप में मनाया गया। ५ बजे नये मन्दिर में मंगल-आरती प्रार्थना और भजन हुये। ९.३० बजे से स्वामी सर्वगानन्दजी के भजन और स्वामी निखिलात्मानन्दजी के 'श्रीसीता से सारदा देवी' विषय पर प्रवचन हुये। घोर ठण्ड एवं तेज हवा के बीच ८.३० बजे संन्यासियों ने संगम-स्नान का आनन्द लिया।

शाम ४ बजे की सार्वजनिक सभा मठ के सत्संग भवन में ही स्वामी आत्मविदानन्दजी द्वारा गाये गये 'सर्वमंगला निखिल जननी' भजन के साथ आरम्भ हुई। श्रीमती छाया चक्रवर्ती ने स्वागत-भाषण किया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की संस्कृत विभाग की रीडर डॉ. सुचित्रा मित्रा ने 'श्रीमाँ सारदा देवी का जीवन और सन्देश' विषय पर सुमधुर भाषण करते हुए कहा – ''श्रीमाँ का जीवन तपस्या का जीवन था। वे गृहस्थ होकर भी तपस्विनी थीं। माँ संघ-जननी, संघ की त्राणकारिणी और संघ की पालनकारिणी थीं। प्रेम, सत्य, दया, त्याग, क्षमा, पवित्रता, तपस्विनी भाव और रामकृष्ण-गत-चित्त ही उनका ऐश्वर्य था। माँ पवित्रता की पराकाष्ठा हैं। माँ कहती थीं कि भक्तों की कोई जाति नहीं होती, भक्त शुद्ध होता है। माँ का सन्तानों के प्रति अगाध स्नेह था। सबके प्रति उनका समान व्यवहार था। सम्पूर्ण जगत् में और तीनों लोकों के परे भी माँ की ममता का विस्तार है। वे सबको अपनी आँचल में छिपा लेती हैं। वे जगत् को सर्वाधिक मधुर बनाने हेतु आई थीं। अन्त में मैं इसी गीत के साथ माँ के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करती हूँ –

पूर्ण ब्रह्म नारायण, पूर्ण ब्रह्म नारायणी ।
परं ब्रह्म रामकृष्ण, परा शक्ति माँ जननी ।।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की हिन्दी विभाग की प्रो. शैल पाण्डेय ने कहा – ''मनुष्य के चैतन्य का विकास करने के लिये ही इन त्रिशक्ति (श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामी विवेकानन्द) का अवतरण हुआ। श्रीरामकृष्ण की बातें श्रीमाँ के जीवन में जीवन्त हो उठीं। माँ ने सभी प्रकार के कष्टों को तापरहित भाव से सहन किया – **सहनं सर्वदुःखानाम् अप्रतिकारपूर्वकम्**।''

रविशंकर विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय अध्ययन विभाग के डॉ. ओम प्रकाश वर्मा ने श्रीमाँ की विस्तृत जीवन-लीला पर प्रकाश डालते हुये कहा – ''माँ का जीवन बड़ा ही विलक्षण रहा है। उनका जीवन परिश्रम, सादगी, पवित्रता और कोमलता से परिपूर्ण है। विभिन्न विपरीत परिस्थितियों में भी वे सदैव शान्त एवं नीरव जीवन जीते दिखाई देती हैं। माँ के ज्ञान देने की पद्धति बिल्कुल विलक्षण थी। वे चिर करुणामयी हैं।''

कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहीं रामकृष्ण सारदा मिशन, इन्दौर की प्रव्राजिका अमितप्राणा माताजी ने कहा – ''पिछले कुछ दिनों से त्रिवेणी में स्नान कर लोग पवित्र हो रहे हैं, लेकिन आज दो घण्टों से जिस पवित्र धारा की बात हो रही है, उसमें अवगाहन कर हम धन्य हो रहे हैं – **पवित्रं चरित्रं यस्या पवित्रं जीवन तथा। पवित्रता-स्वरूपिण्यै तस्यै देव्यै नमो नमः**।। माँ शोक-मोह से रहित समत्व में स्थित थीं। मोह में बाधा आने पर शोक होता है। पुत्र से मोह होता है, पुत्र छोड़कर अमेरिका चला जाता है। उस शोक से बचने के लिये लोग कुत्ता पाल लेते हैं। दूसरा मोह पाल लेते हैं। जैसे अँग्रेजी दवा का साइड अफेक्ट होता है, वैसे ही मोह का भी चक्र चलता रहता है। मोह एक सीमा-रेखा में जीता है। जैसे मेरा पुत्र-पत्नी, दुकान-धन आदि। मोह कुछ रखता है, कुछ छोड़ता है। मोह करीब आने से घनीभूत होता है और विस्तार से दूर होता है। मोह अहंकार की छाया है। मोह असीम नहीं, ससीम है और माँ का प्यार असीम है। माँ का यह महामंत्र है – यदि जीवन में शान्ति चाहते हो, तो किसी के दोष नहीं देखना।''

न्यायाधीश श्री पलक बसु ने रोचक एवं सारगर्भित धन्यवाद ज्ञापन किया। श्री आशीष शर्मा के 'जिसका न हो कोई, उसकी तू है माँ, बाट जोहूँ मैं तेरी' गीत के साथ सभा सम्पन्न हुई। बलराम शर्मा ने तबला वादन किया एवं इस सत्र का संचालन श्री शशिकान्त मिश्र ने किया।

१९ जनवरी, मंगलवार को 'विवेकानन्द दिवस' के रूप में मनाया गया। ५ बजे मन्दिर में मंगल-आरती, प्रार्थना और सन्तों द्वारा भजन हुये। ९.३० बजे से आश्रम के चारों ओर के मुहल्लों से होते हुये एक भव्य जुलूस निकाला गया, जिसमें संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण 'रामकृष्ण-शरणम्' गाते हुये आगे-आगे चल रहे थे। उनके पीछे भक्तगण भी नृत्य-भजन करते हुये जा रहे थे। ११ बजे से भोपाल के डॉ. असीत बनर्जी का सितार-वादन हुआ। तबले पर संगत ग्वालियर के पंडित रामस्वरूप रतोनिया ने किया।

४ बजे शाम को सत्संग-भवन में सार्वजनिक सभा हुई। यह सभा रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के शताब्दी वर्ष १९१०-२०१० के उपलक्ष्य में आयोजित थी। स्वामी समचित्तानन्दजी द्वारा गाये गये 'हे विवेकानन्द स्वामी सकल जग के महाराज' भजन के साथ सभा आरम्भ हुई। रामकृष्ण मिशन, इन्दौर के सचिव स्वामी राघवेन्द्रानन्दजी ने अभ्यागतों का स्वागत किया। स्वामीजी के जीवन-दर्शन पर बोलते हुये इलाहाबाद विश्वविद्यालय की संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा ने कहा – "स्वामीजी का जीवन बहुमुखी है। उनके बहुआयामी जीवन पर इतने कम समय में बोलना सम्भव नहीं हो पाता। उनके जीवन-दर्शन का प्रेरणाश्रोत ठाकुर का जीवन-दर्शन है। उन्होंने अनुभव किया कि ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। अपने भीतर, प्रत्येक मनुष्य, सबके भीतर ईश्वर का दर्शन करना ही जीवन का मूलभूत लक्ष्य है। भारत की आध्यात्मिक एकता को आधार बनाकर ही स्वामीजी ने भारत के विकास की बात सोची। समग्र राष्ट्र के संस्कार से ही व्यक्ति का संस्कार होगा। व्यक्ति राष्ट्र की मूलभूत इकाई है। धर्म अपना पालन करनेवालों की रक्षा करता है – **धर्मो रक्षति रक्षितः**। धर्म का स्वरूप है अध्यात्म। मन्दिर-मस्जिद, पूजा तो दर्शन के बाहरी आवरण हैं। व्यक्ति के अन्दर प्रेम, क्षमा, सद्‌भावना आदि सकारात्मक मूलभूत नैतिक गुण होना आवश्यक है।"

स्वामी निखिलेश्वरानन्दजी ने बड़ी उत्साहपूर्ण भाषा में स्वामी विवेकानन्द के सर्वांगीण व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने स्वामीजी के विश्वप्रेम की अनुभूति तथा महत्त्वपूर्ण फीजी-भूकम्प का उल्लेख किया। उन्होंने कहा – "एक और विवेकानन्द की बुद्धि से ही विवेकानन्द को समझा जा सकता है, हमारी इस अल्प बुद्धि से नहीं। स्वामीजी की पुस्तकें बम हैं। 'शक्तिदायी विचार' के द्वारा सिरियल बम-ब्लास्ट करें और आतंकवाद आदि समस्याओं को समूल नष्ट करें।"

स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी ने अपने सारगर्भित उद्बोधन में कहा – "स्वामी विवेकानन्द यौगिक शक्ति से नहीं, अपितु पवित्रता की शक्ति से सफल हुये। स्वामीजी देहात्मा से संघात्मा, संघात्मा से भारतात्मा और भारतात्मा से विश्वात्मा हो गये। जब उन्हें अपने माता-पिता भाई-बहनों की चिन्ता थी, तब वे देहात्मा थे। जब उन्हें अपने रामकृष्ण संघ के गुरुभाइयों के सुख-दुख की चिन्ता थी, तब वे संघात्मा थे। भारत-भ्रमण करते हुए कन्याकुमारी में भारत-माता का ध्यान करके, जब वे भारतवासियों के दुखों को दूर करने के लिये व्यग्र हो उठते हैं, तब वे भारतात्मा हुए। जब वे फिजी में होनेवाले भूकम्प से पीड़ित मानवता के दुःखों से व्यग्र होते हैं, तब वे विश्वात्मा हो जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द विश्वात्मा कैसे बने? परमात्मा का चिन्तन और ध्यान करके उन्होंने यह अनुभव किया कि वही सर्वव्यापी परमात्मा संसार के सभी प्राणियों में विद्यमान है। विश्वात्मा कभी देहात्मा का त्याग नहीं करता। विश्वात्मा स्वामी विवेकानन्द ने अपनी माता की मनौती को पूरा करने के लिये कौपीन मात्र पहनकर माँ काली के सामने दण्डवत प्रणाम किया था। वे अपनी माता और भ्राताओं का ध्यान भी रखते थे। स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व देहात्मा से विश्वात्मा का विकास है।"

रामकृष्ण मिशन, कनखल (हरिद्वार) के स्वामी चिन्मयानन्द जी महाराज ने सभा की अध्यक्षता करते हुए कहा – "एक बार एक बच्चे ने पूछा कि ठाकुर की एक आँख आधी बन्द और दूसरी पूरी खुली क्यों है? मैंने उत्तर दिया कि इसके द्वारा वे मानो बताना चाहते हैं कि एक आँख मूँदकर ध्यान करो तथा अपने आप में डुबकी लगाकर अपनी शक्ति को, अपने स्वभाव को समझो; और दूसरी आँख को खोलकर जो शक्ति अपने अन्दर है, वही बाहर भी है – ऐसा समझकर उसी के अनुसार व्यवहार करो। माँ की पूरी आँखें खुली हैं। स्वामी विवेकानन्दजी पूर्ण विकसित मानव हैं। पहले एटम बम का उपयोग करना सीख लें, तब उसे बनाने का प्रयास करें। एक बार दो क्रान्तिकारियों की अगले दिन सुबह फाँसी होनेवाली थी। जेल के सुपरिटेंडेंट ने रात में निरीक्षण के दौरान देखा कि दोनों बैठकर हँसते हुये तास खेल रहे हैं। उनकी प्रसन्नता का रहस्य पूछने पर उन्होंने सुपरिटेंडेंट को स्वामी विवेकानन्दजी की 'शक्तिदायी विचार' नामक पुस्तक का चमत्कार बताया। स्वामीजी के साहित्य में इतनी शक्ति विद्यमान है।"

रामकृष्ण मिशन, जयपुर के सचिव स्वामी निखिलात्मानन्दजी महाराज ने धन्यवाद ज्ञापन किया। स्वामी आत्मज्ञानन्दजी महाराज द्वारा गाये गये भजन – 'प्रभु मैं गुलाम तेरा' के साथ सभा की समाप्ति हुई। तबला-वादन बलराम शर्मा और खंजनी ऋषभ शर्मा ने की। इस सत्र का संचालन स्वामी धरणीधरानन्दजी ने किया।

२० जनवरी, बुधवार को संन्यासी-ब्रह्मचारियों को चित्रकूट का दर्शन कराया गया। २१ जनवरी, बृहस्पतिवार को पूज्यपाद परमाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज ने नव-निर्मित मन्दिर में भक्तों को मंत्रदीक्षा प्रदान की। इसके साथ ही यह ऐतिहासिक समारोह सम्पन्न हुआ। ❑❑❑

छत्तीसगढ़ तथा देश के विभिन्न भागों में युवा दिवस की झलकियाँ

रायपुर – रविशंकर विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा योजना ईकाई और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संयुक्त तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय परिसर में विगत १२ जनवरी को प्रतिवर्ष की भाँति 'युवा दिवस' मनाया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता विश्वविद्यालय के कुलपति श्री एस.के. पाण्डेयजी ने की। विशिष्ट अतिथि थे स्वामी सत्यरूपानन्दजी और विशिष्ट वक्ता थे डॉ. ओमप्रकाशजी वर्मा। (आश्रम-कार्यक्रम के विस्तृत विवरण हेतु देखें – अप्रैल, २०१० का अंक)

रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर की राष्ट्रीय सेवा योजना ईकाई द्वारा पोलीथीन उन्मूलन तथा श्रमदान किया गया।

विवेकानन्द सरोवर, रायपुर में स्थित स्वामी विवेकानन्द जी की विशाल ध्यान-मूर्ति के सामने रायपुर की महापौर किरणमयी नायक ने विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये कहा – "स्वामीजी का समूचा जीवन-दर्शन सम्पूर्ण मानव-जाति के जीवन में सदैव ऊर्जा-शक्ति बना रहेगा। उन्होंने आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग दिखाकर युवाओं के जीवन में एक नयी रौशनी दी, नई ऊर्जा भरी और पूरी दुनिया में भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया।" उपमहापौर इकबाल अहमद रिजवी, 'विवेक ज्योति' पत्रिका के सम्पादक रामकृष्ण मिशन के स्वामी विदेहात्मानन्द, विशिष्ट नागरिक श्री लक्ष्मी नारायण इन्दूरिया तथा संस्कृति विभाग के अधिकारी डॉ. प्रीतम मिश्र आदि ने भी स्वामीजी को श्रद्धांजलि अर्पित किये। भारतीय जनता युवा मोर्चा, रायपुर के पदाधिकारियों ने जिलाध्यक्ष जयंती पटेल के नेतृत्व में विवेकानन्द सरोवर में स्वामी विवेकानन्द जी की प्रतिमा के समक्ष दीप-प्रज्वलित किये। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, रायपुर ने विवेकानन्द सरोवर स्थित स्वामीजी की मूर्ति पर माल्यार्पण किया।

गुरुकुल आश्रम परिवार, हतबंद, नन्दनवन, रायपुर में स्वामी विवेकानन्द जी की नव-निर्मित सुन्दर मूर्ति का अनावरण तथा बुद्ध-उद्यान का उद्‌घाटन स्वामी सत्यरूपानन्दजी के हाथों सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर श्रद्धेय दलाई लामाजी का सन्देश लेकर मैनपाट से आये एक तिब्बती संन्यासी भी उपस्थित थे। गुरुकुल के संचालक श्री नारायण राव ने संस्था का परिचय दिया। आश्रम में अभी ६० अनाथ बच्चे रहते हैं। बच्चों की प्रेरणा हेतु स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन-चरित पर एक बड़ी स्थायी चित्र-प्रदर्शनी बनाई जा रही है। स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने अपने व्याख्यान में कहा कि सभी तिब्बती भारत में शरणार्थी नहीं, अपितु हमारे सम्माननीय अतिथि हैं। उन्होंने सभा में उपस्थित सभी लोगों से अपनी आवश्यकता से अधिक सामग्रियों का गरीबों की सेवा में समर्पित करने का निवेदन किया। कार्यक्रम में कई तिब्बती संन्यासी, रामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक के स्वामी विश्वात्मानन्दजी, विवेकानन्द आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्दजी, प्रद्योत महाराज, मैनपाट से आये अनेकों बाल-कलाकार, शिक्षक-अधिकारी तथा अन्य गणमान्य नागरिक उपस्थित थे।

युवा कांग्रेस (अक्स), रायपुर के राष्ट्रीय संयोजक नितिन भंसाली के नेतृत्व में जयस्तम्भ चौक पर 'स्वामी विवेकानन्द का जीवन और सन्देश' नामक पुस्तिका और स्वामी विवेकानन्द जी का पोस्टर नागरिकों और युवकों में वितरित किया गया।

क्रीड़ा भारती, रायपुर ने स्पोर्ट्स कॉम्प्लेक्स में सुबह ७ बजे 'स्वास्थ्य के लिये चलें, देश के लिये दौड़ें' कार्यक्रम के तहत स्कूली बच्चों और खिलाड़ियों के साथ सप्रे स्कूल, कालीबाड़ी और विवेकानन्द सरोवर की परिक्रमा की। कार्यक्रम का शुभारम्भ रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने दीप प्रज्वलन और हरी झण्डी दिखाकर किया। क्रीड़ा भारती के संस्थापक श्री प्रदीप देशपाण्डे ने कहा कि चूँकि स्वामी विवेकानन्द हमेशा से युवकों के प्रेरणास्रोत रहे हैं, इसलिये उन्होंने उनकी जयन्ती को उनके सन्देश के प्रचार हेतु सर्वाधिक अनुकूल पाया।

कवर्धा – शासकीय नवीन उ.मा. विद्यालय में विविध प्रतियोगिताएँ आयोजित की गईं। दक्षता प्रतियोगिता में पुस्तक पढ़कर अपने विचारों की अभिव्यक्ति देना, मानव जीवन के विभिन्न पहलू – शिष्टाचार की शिक्षा – मेरी माँ मुझे अच्छी लगती है – हमें बड़ों का सम्मान करना चाहिये – हमारा समाज के प्रति कर्तव्य श्रेष्ठ होने चाहिये – आदि विषयों पर ३० छात्रों ने १०-१० वाक्य लिखकर अपनी-अपनी दक्षता प्रदर्शित की। अनुशासन – छत्तीसगढ़ के लोकगीत – लोक-संस्कृति – ग्रामीण जनजीवन – आदि चित्रों को देखकर १०-१० वाक्य लिखने में ३५ छात्रों ने भाग लिया। मुहावरे, पहेलियाँ, क्रम-लेखन, कविता-लेखन आदि विधाओं पर भी प्रतियोगिताएँ आयोजित हुईं। कार्यक्रम में पार्षद और अन्य गणमान्यों की भी उपस्थिति रही। कवर्धा के ही अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद ने लगभग ४०० छात्र-छात्राओं का रक्त परीक्षण कराया तथा जरूरतमन्दों को रक्तदान करने का संकल्प लिया।

दुर्ग – सरस्वती शिशु मन्दिर, कसारीडीह के छात्रों ने एक विशाल रैली निकाली, जिसमें ५०० बच्चों ने भाग लिया।

लखौली – 'विवेकानन्द सेवा समिति' और 'विवेकानन्द विद्या मन्दिर' के तत्त्वावधान में युवा-दिवस मनाया गया। भाषण प्रतियोगिता में कई विद्यालयों ने भाग लिया। इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि शासकीय हाई स्कूल, लखौली के प्राचार्य श्री शंकर लालजी बघेल थे।

देश में युवा दिवस की झलकियाँ

उजैन – 'भारत विकास परिषद', 'सन्दीपनी आश्रम' और 'मुस्लिम राष्ट्रमंच' द्वारा आतंकवाद के विरुद्ध सद्भावना दौड़ और रैली आयोजित की गई। यह रैली महाकाल मन्दिर से शुरू होकर शहर के फ्रीगंज में शहीद पार्क पर समाप्त हुई। प्रथम पुरस्कार विजेता को ११ हजार, द्वितीय को ७१०० और तृतीय को ४५०० रुपये के नकद पुरस्कार दिये गये।

इलाहाबाद – शहर में स्थित स्वामी विवेकानन्दजी की मूर्ति पर माल्यार्पण कर जनता द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित की गई। एक व्यक्ति अपने पेट और सीने पर स्वामीजी का बहुत बड़ा चित्र बनाकर माघ मेले में घूम रहा था।

भुवनेश्वर में 'राष्ट्रीय युवा दिवस' पर चित्र-प्रदर्शनी का आयोजन हुआ, जिसमें सार्क देशों के कुल मिलाकर ६ हजार छात्र शामिल हुये। छत्तीसगढ़ से ८० छात्रों ने भाग लिया। कार्यक्रम का उद्घाटन खेलमंत्री एम.एस. गिल ने किया।

कोलकाता – नरेन्द्रपुर, रामकृष्ण मिशन आवासीय कॉलेज में 'युवा दिवस' और 'स्वर्ण जयन्ती' मनाया गया। कार्यक्रम का उद्घाटन किरण वेदी और अध्यक्षता स्वामी मुमुक्षानन्दजी ने किया। वेदी ने अपने व्याख्यान में छात्रों को तीन उत्तरदायित्वों से अवगत कराया – (१) बड़ों का सम्मान करना होगा, (२) अपनी पढ़ाई के प्रति सचेत रहना होगा और (३) अपने परिवार और देश के लिये कार्य करना होगा। उन्होंने कहा कि आजकल युवा समाज ऐसा सोचता है कि देश में कोई उनके लिये कुछ नहीं कर रहा है। किन्तु उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि इस देश में जन्म लेने का उन्हें सौभाग्य मिला है। देश के लिये उन लोगों को कार्य करना होगा। उन्हें यह स्मरण रखना होगा कि वे लोग जिस स्थान (पद-प्रतिष्ठा) पर पहुँचे हैं, उसके पीछे देश का योगदान है।'' रामकृष्ण मिशन के सिंगापुर केन्द्र के अध्यक्ष स्वामी मुक्तिरूपानन्द विशेष अतिथि के रूप में उपस्थित थे। नरेन्द्रपुर आश्रम के सचिव स्वामी सुपर्णानन्द जी ने आगत अतिथियों का स्वागत और विद्यालय के इतिहास से अवगत कराया।

दिल्ली में 'युवा दिवस' के अवसर पर रेलमंत्री ममता बनर्जी ने देश को 'युवा एक्सप्रेस' के नाम से एक ट्रेन का उपहार दिया। 'निजामुद्दीन-बान्द्रा युवा एक्सप्रेस' नामक इस नई रेलगाड़ी के उद्घाटन समारोह में दिल्ली की मुख्यमंत्री शिला दीक्षित और रामकृष्ण मिशन, दिल्ली के प्रमुख स्वामी शान्तात्मानन्दजी तथा रेल-उपमंत्री के.एच. मुनियप्पा भी उपस्थित थे। बाद में स्वामी शान्तात्मानन्दजी रेल-भवन में सुश्री ममता बनर्जी से मिले और उपहार के रूप में उन्हें पुस्तकें, प्रसाद, पुष्प आदि प्रदान किया। उन्होंने स्वामीजी के जन्मदिवस पर 'युवा एक्सप्रेस' चलाने के लिये मिशन की ओर से धन्यवाद दिया। रेलमंत्री ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द का आदर्श आज भी समयोपयोगी बना हुआ है।''

कुछ प्रमुख समाचारपत्रों ने स्वामी विवेकानन्दजी पर लोकप्रिय लेख प्रकाशित किये। रायपुर से प्रकाशित होनेवाले 'नवभारत' ने स्वामीजी पर एक विशेष परिशिष्ट ही निकाला, जिसमें 'व्यक्तित्व का विकास करें' शीर्षक के तहत स्वामीजी की महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ प्रस्तुत की गयी थीं। एक दूसरा लेख था – 'युवा सोच के सरताज', जिसमें स्वामीजी की जीवनी दी गयी थी। 'नया भारत गढ़ो' नामक तीसरे लेख में उन्हीं की पुस्तक से ज्ञानवर्धक तथा प्रेरक विचारों का संकलन था। 'फिर से विवेकानन्द' में रायपुर के विभिन्न स्थानों के युवक-युवतियों के विचार थे। 'विवेक और आनन्द यानी विवेकानन्द' नामक शीर्षक में स्वामी विवेकानन्द पर एक पात्रीय अभिनय करनेवाले देश के जाने-माने कलाकार श्री शेखर सेन और उनकी स्वामीजी के नाटक से सम्बन्धित जानकारी है। प्रथम और अन्तिम पृष्ठ पर 'देश का युवा कैसा हो?' – विषय पर पूजा जैन तथा डॉ. कल्पना नमित मिश्रा के ज्ञानपरक लेख थे। नवभारत ने ही मुख्य अखबार के बीच के पृष्ठ में डॉ. 'श्यामा प्रसाद मुखर्जी शोध अधिष्ठान' के निदेशक श्री तरुण विजय का महत्वपूर्ण निबन्ध 'विद्रोह नहीं तो विवेकानन्द नहीं' प्रकाशित किया। 'नेशनल लुक' ने स्वामीजी पर एक पूरे पृष्ठ का विशेषांक निकाला। 'प्रतिदिन राजधानी' ने विवेकानन्द और विश्वबन्धुत्व पर एक लेख छापा। अँग्रेजी समाचार पत्र 'हितवाद' ने 'एपोस्टल ऑफ रिफॉर्मेशन' नामक लेख में स्वामीजी के व्यक्तित्व-कृतित्व पर प्रकाश डाला। ❑

(समाचार पत्रों से संकलित)